आर्यसमाज
का
इतिहास
हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार

आर्यसमाज का इतिहास

(संक्षिप्त एवं सुबोध)

संग्रहीता—

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

प्रकाशक—

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

७२१, कटरा लच्छूसिंह

फव्वारा, देहली

संवत् १९९८ वि०] [मूल्य ॥।)

विषय-सूची

—:*:—

———

* ओ३म् *

निवेदन

—:*:—

भाई देवव्रत जी 'धर्मेन्दु' की प्रेरणा का यह फल पाठकोंके सन्मुख है। गुणावगुणकी परीक्षा तो विज्ञ पाठक और समालोचक करेंगे ही, परन्तु इतना निश्चित है कि घटनाओंका संग्रह करते समय किसी सूत्रको छूटने न देनेका ही प्रयत्न किया गया है।

इस संक्षिप्त इतिहासका मूल उद्देश्य यही रखा गया है कि पाठकको आर्यसमाजके क्रमिक विकासकी घटनाओंसे परिचित हो सके। यों तो आर्यसमाज जैसी प्रगतिशील संस्थाके इन ६५ वर्षोंके जीवनकालमें आदर्श-जीवन, आदर्श घटनायें ऐसी होनी स्वाभाविक ही थीं जिनका वर्णन रोचकता और शिक्षासे खाली न होता, परन्तु वह सब इस लघु-पुस्तककी सीमामें समा नहीं सकता था। आर्यसमाजकी जिन विगत या वर्तमान संस्थाओं अथवा व्यक्तियोंका उल्लेख मैं इस पुस्तकमें नहीं कर सका, उनकी सेवाओंका मूल्य इससे कम नहीं हो जाता। वर्तमान काल की ऐसी अनेक संस्थायें और व्यक्ति ऐसे हैं, जो संस्थाके भविष्यके निर्माणमें विशेष हाथ रखते हैं, परन्तु कल्पनाके क्षेत्रसे परे रहना ठीक समझकर ही इनका उल्लेख नहीं किया गया। आशा है कि विज्ञ समालोचक समालोचना करते समय इस सीमा को ध्यानमें रखेंगे।

कुछ शीघ्रतावश छपाई और सम्पादन वैसा नहीं हो सका जैसा कि मैं चाहता था। पुस्तकको सचित्रभी नहीं बनाया जासका, आगामी संस्करणमें इन त्रुटियोंको दूर करनेका भी प्रयत्न किया जायगा।

इस पुस्तकके लिखनेमें जिन लेखकोंकी पुस्तकोंसे सहायता ली गई है उनका धन्यवाद करता हुआ मैं पं० धर्मदेवजी वेद-वाचस्पति गुरुकुल इन्द्रप्रस्थका आभारी हूँ जिन्होंने 'स्थापना प्रकरण' लिखकर मेरे इस कार्यमें हाथ बंटाया। श्री धर्मेन्दुजीकी प्रेरणाका तो यह फल ही है। प्रो० सुधाकरजी एम.ए. ने अपना अमूल्य समय देकर जहां इस पुस्तककी हस्तलिपि जहां तहां देखी और परामर्श दिया वहां 'दो शब्द' लिखकर मेरे उत्साहको बढ़ाया।

गुरु पूर्णिमा सं० १९९८,
७५१, कटरा लच्छूसिंह,
फव्वारा, देहली।

—हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

प्रस्तावना

—:*:-

आर्य समाजके विस्तृत कार्यक्षेत्रमें कार्य करते हुए बहुत दिनों से मुझे अनुभव होरहा था कि आर्यसमाजके इतिहास की एक ऐसी पुस्तककी आवश्यकता है जो संक्षिप्त और सरल होते हुए भी शृंखलाबद्ध हो, जिसमें आर्यसमाजकी आज तककी प्रगतिका ऐसा ब्योरेवार वर्णन हो कि नवयुवकों और कार्यकर्त्ताओं को इस प्रगतिशील संस्थाके विकासका पूरा-पूरा विवरण मिल सके और वे इसके भावी निर्माणमें किसी निश्चित धारणा से काम ले सकें।

गत वर्ष जबसे भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद्के परीक्षामंत्री का कर्त्तव्यभार मुझे सौंपा गया तो यह कमी और अधिक खटकी। परिषद्की परीक्षाओंका काया-कल्प करते हुए उनमें 'इतिहास विषय' का समावेश आवश्यक था, पर समस्या यह थी कि मनोवांछित पुस्तक तय्यार नहीं थी।

परीक्षार्थियोंकी दृष्टिसे पुस्तकका सुबोध, सरल और संक्षिप्त होना ही आवश्यक नहीं था, अपितु यह भी आवश्यक था कि पुस्तक का विषय वर्तमान काल तक हो, उसमें इतिहासकी सब मुख्य घट-नाओं का समावेश हो और इस पर भी मूल्य अधिक न हो।

अवसर देख मैंने पं० हरिश्चन्द्रजी विद्यालंकारको इस कार्यके लिए प्रेरित किया। हर्षका विषय है कि अत्यन्त शीघ्रतामें भी वे ऐसा सर्वाङ्ग सुन्दर इतिहास तय्यार कर सके। इस इतिहासमें उपर्युक्त सब गुणोंका समावेश है।

मैंने इसे आद्योपान्त पढ़ा है। मैं यह निस्संकोच कह सकता हूं कि यह इतिहास न केवल परीक्षार्थी विद्यार्थियोंकेलिए उपयोगी है अपितु यह पुस्तक आर्यसमाजकी प्रगतिके इतिहास के एक प्रत्येक जिज्ञासुके कामकी है। इसकी रचना ऐसी रोचक, शृंखला-बद्ध और साथ ही गम्भीर है कि आर्यसमाजकी प्रगतिका पूरा और सही चित्र अंकित हो जाता है। आर्यसमाजके कार्यक्षेत्रमें प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक नवयुवकको इसका पाठ अवश्य करना चाहिए। संस्थाकी अब तककी प्रगतिका इतिहास कार्यकर्ताओंका पथप्रदर्शक होता है। इसके प्रकाशमें ही वे अपना अगला पग उठाते हैं जो संस्थाके भावी इतिहासका निर्माता होता है।

मुझे पूर्ण आशा है कि आर्यजगत इस सुन्दर पुस्तकसे पूरा लाभ उठायगा और कोई भी नवयुवक इसके पाठसे वंचित न रहेगा।

८ जुलाई, १९४१
दरयागंज,
देहली।

देवव्रत धर्मेन्दु,
परीक्षा मंत्री, भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद्,
दीवान भवन, देहली।

दो शब्द

—:*:—

इतिहास एक मनोरञ्जक विषय है। इसके पढ़नेसे बहुतसी शिक्षा प्राप्त होती है। प्रगतिशील संस्थाओंका इतिहास तो और भी अधिक मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद होता है।

आर्यसमाज एक प्रगतिशील संस्था है। पिछली शताब्दिमें अपने जन्मकालसे इसने आश्चर्यजनक उन्नति की है। इसके मित्र और शत्रु, दोनोंने इसकी उन्नति पर हर्ष प्रकट किया है। ऐसी प्रगतिशील संस्थाके विकासके इतिहासका अध्ययन नवयुवकोंके-लिए विशेष रूपसे लाभप्रद होगा।

आर्यसमाजका इतिहास इससे पूर्व भी कई सज्जन लिख चुके हैं। परन्तु एक सरल, संक्षिप्त और सुबोध पुस्तककी आवश्यकता थी, जो न केवल विद्यार्थियों और परीक्षार्थियोंके ही काममें आ सके अपितु साधारण आर्य जनता भी जिससे लाभ उठा सके और आर्यसमाजकी प्रगतिके श्रृंखलाबद्ध घटनाक्रमको भली भांति समझ सके। इस आवश्यकताकी पूर्तिका श्रेय गुरुकुल कांगड़ीके स्नातक पं० हरिश्चन्द्रजी विद्यालंकारको है।

आर्यसमाजका इतिहास अखिल भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद्की परीक्षाओंका एक पाठ्य विषय है। उक्त परिषदकी

'सिद्धान्त-भास्कर' परीक्षामें यह पुस्तक पाठ्य-पुस्तक है। मुझे इस बातका सन्तोष है कि विद्यालंकारजी की यह पुस्तक परीक्षार्थियोंके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। प्रकरणोंकी समाप्तिपर विद्यार्थियों के ज्ञानकी पुनरावृत्तिकेलिए प्रश्नावलि दी गई है, प्रस्तुत विषयको समझनेमें इससे विद्यार्थीको बहुत सहायता मिलेगी।

संस्थाओंका इतिहास लिखनेमें लेखकोंको प्रायः विवादास्पद विषयोंपर चर्चा करते समय कठिनाई अनुभव होती है परन्तु इस पुस्तकमें लेखकने गम्भीरतापूर्वक आलोचना करते हुए भी किसी पक्ष-विशेषका पक्ष नहीं लिया और स्वयं भी किसी दलके प्रतिनिधि नहीं बने।

हमें पूर्ण आशा है कि लेखक महोदय इस शैलीका अनुसरण करते हुए समय पाकर आर्यसमाजका बृहत् इतिहास लिखकर जनताको अनुगृहीत करेंगे।

बलिदान भवन, देहली।
गुरु पूर्णिमा,
संवत् १९९८

सुधाकर,
(एम. ए.)
मंत्री, सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा।

* ओ३म् *

आर्यसमाज का इतिहास

स्थापना प्रकरण

(ऋषि जन्म से सं० १९३१ के अंत तक)

१

प्रवर्तक--ऋषि दयानन्द

—:*:—

ऋषि दयानन्दने चैत्र शुक्ल १ सं० १९३२ तदनुसार ७ अप्रैल सन १८७५ ई० को बम्बईके गिरगाँवमें डा० मानिकाचन्दकी वाटिकामें आर्यसमाजकी स्थापना की। आर्यसमाजकी यह स्थापना ऋषिके हजारों शिष्योंको एक केन्द्रमें संगठित करने का ही प्रयत्न था। इसलिये यदि हम इसके तत्कालीन लिखित उद्देश्य की ओर एक क्षणकेलिए ध्यान न भी दें तो भी यह स्पष्ट है कि आर्यसमाजका मूल उद्देश्य ऋषि दयानन्दके जीवनका लक्ष्य ही होना चाहिए। आर्यसमाजके उद्देश्यको भली भांति समझने के लिये हमें ऋषिके अबतकके जीवन और उनके कार्यक्रम पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये और उसी प्रकाश में आर्यसमाजके लिखित उद्देश्य, नियम, उपनियम आदिको समझनेका प्रयत्न करना चाहिये।

प्रवर्तकका जन्म तथा शिक्षाकाल

काठियावाड़ प्रान्त में मोरवी राज्यके टंकारा नामक नगरमें अम्बाशंकर नामके एक औदीच्य ब्राह्मणके घर बालक मूलशंकरने जन्म लिया। यह बात सम्वत् १८८१ (सन् १८२४) के पौष मासकी है। आगे चलकर यही मूलशंकर दयानन्द बना। बालककी स्मरण शक्ति शुरूसे बहुत तीव्र थी। उसने छोटी आयुमें ही पर्याप्त शिक्षा प्राप्त करली थी। और यजुर्वेद आदि कई धर्म ग्रंथ कण्ठस्थ कर लिये थे। पं० अम्बाशंकर कट्टर शैवमतावलम्बी थे। जब मूलशंकर १४ वर्षका था तो उन्होंने शिव माहात्म्य सुनाकर उसे शिवरात्रिके व्रतका पालन करनेकेलिए तय्यार कर लिया। बालकने पूरी निष्ठाके साथ व्रतका पालन किया। मुँहपर पानीके छींटे दे-देकर सारी रात जागता रहा। परन्तु मूर्तिपर एक चूहेको मिष्टान्न खाते देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और मूर्तिपूजासे विश्वास जाता रहा। इस घटनाके कुछ वर्ष पश्चात् स्नेही बहिन तथा चाचाकी मृत्यु हो गई जिससे बालक मूलशंकरके हृदयमें वैराग्यका बीज अंकुरित हो उठा। माता-पिताने उसे बांधनेकेलिए विवाहका जाल बिछाया। परन्तु बालककी जिज्ञासा-वृत्ति तीव्र हो चुकी थी। अमृतकी अभिलाषाकी उमंग बढ़ रही थी। विवाह-बन्धनसे बचकर रहने और इस अभिलाषाको पूर्ण करने का एक ही मार्ग था। वह घरसे भाग खड़ा हुआ। यह वि० सम्वत् १६०२ के जेठ मासके सांझका समय था। एक बार सिद्धपुरके मेलेपर पिताने उसे आ पकड़ा। परन्तु मौका पाकर सिपाहियों को सोता छोड़कर वह फिर भाग निकला। अपनी धुनमें मस्त

वह कई वर्ष गुरुओं व योगियोंकी तलाशमें रहा। इसी बीच स्वामी पूर्णानन्द सरस्वतीसे संन्यास लेकर वह मूलशंकर, दयानन्द सरस्वती बन गये। सच्चे योगियों व गुरुओंकी खोजमें उन्होंने भारतवर्षके अनेक जंगल, गुफा व पहाड़ छान मारे। उन्हें जहां-तहां सच्चे-झूठे योगियों के दर्शन हुए। मठाधीशों व महन्तों की पोपलीला के देखने का भी अवसर मिला। कहीं २ योगिजनोंसे शास्त्राध्ययन तथा योगविधान सीखनेका सौभाग्य भी मिला। इसीं प्रकार सच्चे गुरुकी खोज करते २ पन्द्रह वर्ष पश्चात् कार्तिक सुदी २ सं० १९१७ विक्रमी (१४ नवम्बर १८६०) को स्वामी दयानन्दने मथुरामें स्वामी विरजानन्दका द्वार खटखटाया। स्वामी विरजानन्द व्याकरणके प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके पंडित्यकी ख्याति दूर २ तक फैल रही थी। आपने पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर उनके यहाँ तीन वर्ष विद्याध्ययन किया। यहीं पर आपने आर्ष ग्रन्थोंका महत्व जाना और भावीमें उसका सर्वत्र प्रचार किया। विद्या समाप्त करके स्वामीजी गुरु दक्षिणाकेलिए लौंग लेकर गुरुके चरणोंमें पहुँचे तो उन्होंने कहा—"दयानन्द! मुझे इन लौंगोंकी आवश्यकता नहीं। तुमने जो कुछ यहाँ पढ़ा है उसे सफलकर दिखाओ। दुनियांमें जाकर धर्मका प्रचार करो, देशका उद्धार करो। मतमतान्तरोंकी अविद्याका नाश करो। यही मेरी गुरु-दक्षिणा है।" गुरुका पवित्र आदेश शिरोधार्यकर स्वामी दयानन्द गुरुके द्वारसे बिदा हुए। इस प्रकार लोकोपकारकी पवित्र भावना हृदयमें लिये हुए यह पूर्ण ब्रह्मचारी कार्य क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ।

२

भारतवर्ष की तात्कालिक दुरवस्था

धार्मिक धांधली

जिस समय स्वामी दयानन्दने कार्यक्षेत्रमें पग रखा, उस समय भारतवर्षकी धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक अवस्था कैसी थी, इसका अन्दाज वर्तमान अवस्थाको देखकर लगाना कठिन है। महार्षिकी कृपासे आज भारतमें महान् परिवर्तन, क्रान्ति, उत्थान, व जागृतिके उज्ज्वल चिन्ह ,दिखाई दे रहे है। उस समय तो हिन्दूजाति गाढ़ निद्रामें पड़ी हुई था। आलस्य, प्रमाद, अज्ञान तथा पौरुष का अभाव इतनी पराकाष्ठा तक पहुंच चुका था कि हिन्दू जाति को ललकार कर, ठोकरें मारकर, घण्टे का उच्च घोष सुनाकर जगानेकी आवश्यकता थी। उसे आत्म-विस्मृति की अवस्थासे निकाल चैतन्य बनाने की आवश्यकता थी। उस समय आर्यधर्म जड़ता, रूढ़िवाद तथा निरर्थक क्रिया-कलाप का बदबूदार पोखर बन गया था। जिस प्रकार भगवती भागीरथी का पवित्र शीतल मधुर जल लम्बा-मैदानी-मार्ग पार कर, गन्दे नदी-नालोंके सम्पर्कसे हुगलीमें मलिन दूषित तथा अपेय हो जाता है तथा उस जलधारा से पृथक् गढ़ेमें एकत्र हुई जलराशि गतिशून्य हो जानेकेकारण सडांद पैदा करने लगती है और उसमें नाना प्रकारके कृमि-कीट पैदा हो जाते हैं; ठीक यही अवस्था हमारे आर्य (हिन्दू) जगत्की

हो चुकी थी। शुद्ध वैदिक धर्मका लोप हो चुका था। वेदोंका पढ़नापढ़ाना सर्वथा समाप्त हो चुका था। यद्यपि बड़े-बड़े पण्डित वेदोंके प्रति अगाध श्रद्धा तथा भक्तिकी भावना रखते थे, परन्तु उनके अध्ययनमें न उनकी रुचि रही थी और न उन्हें साहस ही होता था। पुराणों, स्मृतियों गृह्यसूत्रों तथा विविध भाष्यों तक ही उनका पाण्डित्य सीमित था। साधारण जनता तो वेदोंके नामसे ही सर्वथा अपरिचित थी। भागवत पुराण आदिकी कथा सुननेमें तथा घण्टा घड़ियाल बजानेमें ही उनका धर्म समाप्त हो जाता था। हिन्दू धर्म, वैष्णव, शैव तथा शाक्त आदि सम्प्रदायोंमें बंट चुका था। इन सम्प्रदायोंके भी अनेक भेद उपभेद बन गए थे। वे परस्पर एक दूसरेकी निन्दा करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने तथा नाना प्रकारके बाह्य आडम्बरों, तिलक-पूजापाठ और क्रिया-कलाप, के भेद बनाए रखनेमें ही, अपना अस्तित्व समझते थे। इस भावनाके कारण स्थान-स्थानपर अनेक मठ, देवालय तथा मन्दिर आदि बन गए थे, जो देवदासी प्रथा आदिके रूपमें अनाचारके गढ़ थे। जैनधर्म अपनी अहिंसाकी सच्ची भावनाका परित्याग कर कायरता, बिडम्बना तथा निष्कर्मण्यताका शिकार बन गया था। सिख धर्मके महन्त भी बड़े-बड़े मठ कायम करनेकी धुनमें मस्त थे। कहां तक वर्णन किया जाय! उस समय का हिन्दू समाज नाना मतमतान्तरोंका एक विलक्षण अद्‌भुतालय बना हुआ था। जो उठता दो चार दोहे या श्लोक गाकर लोगोंको दीक्षा देने लगता। एक कुटिया बना, भस्म रमा, कण्ठी धारण करा धर्मके नामसे लोगोंको ठगता था और अन्तमें अपना

मठ तय्यार कर शिष्य परम्परा चला जाता था। इस प्रकार धर्मके नामसे जायदादें खड़ी की जाने लगीं। सच्चे धर्मका उपदेश दे सकनेकी क्षमता न हो सकनेके कारण मूर्तिपूजाका आश्रय लेकर हिन्दू जनताकी भक्ति भावनाकी तृप्ति की जाने लगी। यह मूर्ति-पूजा हमारे धर्मके नाशकी तथा विविध पोप-लीला व बाह्याडम्बर की आधार शिला थी।

उन दिनों हिन्दूधर्मके तीनों अङ्ग—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति-सर्वथा बिगड़ चुके थे। स्वामी शंकराचार्यका चलाया हुआ नवीन अद्वैतवाद आम जनता व कलुषित आत्माओंमें पहुंचकर हमारे जीवनकी निष्कर्मण्यता तथा पाप वासनाका महान् कारण बन रहा था। 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर गृहस्थ व साधु अपने आपको पापपुण्यसे ऊपर समझने लगे थे। कर्मकाण्डकेलिए यज्ञमें पशु-हिंसा, देवी देवताओंकी मूर्ति-पूजा तथा उनकेलिए पशु-बलि चढ़ानेके अतिरक्त कुछ कर्तव्य कर्म शेष न रहा था। आचार-अनाचारमें, पापपुण्यमें, अच्छे बुरेमें भेद जाता रहा था। केवल गंगा, श्रीकृष्ण या विष्णुका नाम जप लेने मात्रसे पाप-क्षय समझा जाने लगा था। भक्तिमार्ग तो सर्वथा दूषित हो चुका था। वैष्णव लोग श्रीकृष्णके नामसे खुलेआम अनाचारका प्रचार कर रहे थे। उपास्य उपासकमें पिता-पुत्रकी पवित्र भावनाकी प्रधानता न रहकर पति-पत्नीकी भावनाका—घोर शृंगारमय वासनाका—अंकुर फूट रहा था। यह था घोर अन्धकार, तीव्र प्रतारणा, आत्म-प्रवंचना तथा छलछद्मका भयंकर साम्राज्य! कैसी दुरवस्था थी! कितना अनर्थ था! धर्मक्षेत्रमें धांधली मची हुई थी।

'सामाजिक'

इन आन्तरिक कमजोरियोंके अतिरिक्त मुसलमानोंका भी हमारे जातीय जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमान बादशाह तलवारके जोरसे भारतवर्षमें इसलामका प्रचार करने आये थे। वे इस तलवारके जोरसे हमें राजनैतिक पराधीनतामें तो जकड़ सके। परन्तु धर्म परिवर्तन करानेमें पूरे सफल न हो पाये। क्योंकि भारतवर्षने शुरूसे ही अपने धार्मिक संगठनको समयानुकूल परिवर्तित करके आत्म रक्षाकेलिए सन्नद्धकर दिया था। परन्तु निर्बलोंका यह असहयोग शस्त्र परिणाममें हिन्दूजाति केलिए विशेष गुणकारी सिद्ध न हुआ। किलेमें बन्द सेनाकी तरह उसमें आलस्य व फूटका बीज उगने लगा। साथही इस्लाम-से आत्म रक्षाकेलिए सतीप्रथा, पर्दा, खानपानके बन्धन, जातिके कड़े विभाग, बालविवाह तथा छूतछात आदि जो दीवारें खड़ी की गईं, उनसे हिन्दू जातिका अपनी उन्नतिका मार्ग भी बन्द हो गया। परिणामतः हमारा सामाजिक जीवन इतना कमजोर व सच्छिद्र हो गया था कि मुसलमानी राज्यकी समाप्तिके बाद भी हजारों हिन्दू अपने भाइयोंके इन बन्धनोंसे पीड़ित होकर हिन्दूधर्मका परित्याग कर किसी अन्य धर्मके ग्रहण करनेके उत्सुक हो रहे थे। जाति बहिष्कारकी प्रथाने जबरदस्ती कुछ भाइयोंको इस्लाम कबूल करनेकेलिए बाधित कर दिया था। बादमें वही हिन्दू भाई इस अत्याचारके कारण हिन्दूजातिके शत्रु बन गए। साथही कुछ लोग शास्त्रों पर अगाध श्रद्धा रखते हुए हिन्दूधर्ममें रहकर कष्टमय जीवन बिता रहे थे। मानों

किसी ऐसे महापुरुषकी प्रतीक्षामें थे, जो इन्हें बन्धनोंसे मुक्त कर सच्चे आर्यधर्मकी ज्योति दिखा सके और उत्तम जीवन प्रदान कर सके। गर्भ विवाह, बालविवाह तथा वृद्ध विवाहका दौरदौरा था। पूरी आयुमें तो विवाहका एक उदाहरण मिलना भी कठिन था। अपनी ही जातिके छोटे वर्गपर—अन्त्यजोंपर—ब्राह्मणों व सवर्णों द्वारा सामाजिक अत्याचार किए जाने लगे। उनके साथ खानपान, विवाह-सम्बन्ध तथा पठन-पाठन छूट गया था। उन्हें देवदर्शन व कूओंपर पानी भरनेसे भी वञ्चित कर दिया गया। ये दलित व पीड़ित अन्त्यज लोग हिंदूजातिमें रहते हुए पूरे बंदी थे, दुःखित थे तथा अत्याचार पीड़ित थे।

ईसाई मतका प्रवेश

इन बन्धनोंसे तंग आकर हिन्दू जाति स्वयं अपना धर्म छोड़नेकेलिए उत्सुक बैठी थी। परन्तु मुसलमानोंके प्रति घृणा हो जानेके कारण स्वेच्छापूर्वक इस्लाम कबूल करने को तय्यार न थी। मुस्लिम राज्यके अधःपतनके साथ भारतवर्षमें यूरोपकी जातियोंके साथ ईसाइयतका प्रवेश हुआ। इसने शान्त परन्तु गहरे व पेचदार उपायोंसे हिन्दू जातिमें घुसना शुरू किया। भारतमें अंग्रेजोंका प्रभुत्व और ईसाइयत परस्पर एक दूसरेके सहायक थे। पश्चिमी सभ्यताका आकर्षक रूप इन दोनोंका सहायक बना। हिन्दू जातिका पीड़ित वर्ग तो अपने भाइयोंसे पीड़ित ही था, ईसाइयतकी ओरसे इस वर्गको आर्थिक प्रलोभन भी मिला। शिक्षणालयोंके जालमें उच्च वर्गके भारतवासी भी फँस गये। सरकारी नौकरीका प्रलोभन भी साथ लगा हुआ था।

धीरे-धीरे ईसाईकालके कबीर भी पैदा होने लगे। उन्होंने हिन्दू-धर्मकी रक्षाकेलिये ईसाइयतकी शरण ली और हिन्दूपनमें ईसाइयतकी क़लम लगाकर दोनों धर्मोंका एकीकरण करना चाहा। सर्व-प्रथम बंगालमें ब्रह्मसमाजके रूपमें इस प्रयत्नका परिणाम प्रकट हुआ। इधर पाश्चात्य शिक्षाके साथ-साथ नास्तिकता ने भी भारतमें प्रवेश किया। पोपकालीन ईसाई धर्मके पाप—छलकपट—तथा—अत्याचार-मय होनेके कारण युरोपमें धर्म व ईश्वरके प्रति अविश्वास एवं विज्ञानकी सर्वशक्ति-मत्ताके प्रति गहरा विश्वास जड़ जमा रहा था। भारतमें यह लहर हिन्दू धर्मके प्रति अनास्था एवं नास्तिकता उत्पन्न कर रही थी।

इस प्रकार संक्षेपमें तात्कालीन धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक अवस्थाओंका हम यों उल्लेख कर सकते हैं; (१) एक तरह हिन्दूधर्ममें अत्यन्त बदबू व सड़ांद पैदा हो गई थी। वह नाना मतमतान्तरोंमें बंट चुका था। और वे मत परस्पर एक दूसरेका विरोध कर रहे थे। धर्मके तीनों अङ्ग—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति—सर्वथा बिगड़ चुके थे। (२) धर्म-विस्तारकी प्राचीन भावनाका परित्याग करके आत्मरक्षार्थ किये गए बालविवाह, सतीप्रथा, जाति-बहिष्कार आदि उपायोंसे हिन्दूजातिको निस्तेज करके अनेक सामाजिक कुरीतियोंके गढ़ेमें धकेल दिया गया था। (३) हिन्दूजातिके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर तथा पैसे व नौकरी-के लोभसे दलित जातिके लोग हिन्दूधर्मका परित्याग करके इस्लाम व ईसाइयतको कबूल कर रहे थे। (४) ईसाइयोंके शान्त उपायोंके कारण अनेक शिक्षित लोग शनैः २ अपना धर्म

छोड़कर स्वेच्छापूर्वक ईसाई धर्मको ग्रहण कर रहे थे। (५) हीनतावृत्ति (Inferiority Complex) होनेके कारण कुछ सुधारक ईसाइयतकी पैवन्द लगाकर हिन्दूधर्मको जीवित रखनेकी कोशिश कर रहे थे। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज आदि इस प्रवृत्तिके परिणाम थे। (६) साथ ही साथ नव शिक्षितोंमें नास्तिकता भी बढ़ रही थी; धर्मका विचार तक उन्हें असह्य हो उठा था।

ऋषि दयानन्दने अपने परिभ्रमणके १५ वर्षोंमें यह सब अनुभव किया था। वे घरसे अमृतकी खोजमें निकले थे, सत्य और अमृतके अभिलाषीने देखा कि सारा संसार विशेषकर सत्यज्ञान—वेद—की अनुयायिनी आर्यजाति आज पथभ्रष्ट होकर मृत्यु मुखमें चली जा रही है। उसने अपनी मुक्ति और ब्रह्मानन्दको छोड़कर इस जातिकी डूबती नय्याकी पतवार सम्भाली। यह परोपकार-भावना ही आर्यसमाजका बीज है।*

विदेशी शासनका परिणाम

महारानी विक्टोरियाकी धार्मिक स्वतंत्रताकी घोषणाके कारण अंग्रेज़ अधिकारियोंके प्रति जनताका विश्वास बढ़ रहा

---

* ६ फर्वरी सन् १८८१ को सेठ कालीचरण रामचरणको मुंशी बखतावरसिंह द्वारा वैदिक यंत्रालयका रुपया गबन करनेके सम्बन्धमें पत्र लिखते हुए ऋषिने लिखा था—"जो वह यहां आगया और पंचायत करके हिसाबका फैसला कर दिया तो अच्छा है नहीं तो यह मामला अदालतमें अवश्य जायगा। आप फिर हमको कोई दोष न देना, क्योंकि हमने परमार्थ और स्वदेशोन्नतिके कारण अपनी समाधि और ब्रह्मानंदको छोड़कर यह कार्य ग्रहण किया है। (देखो पं० भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित ऋषि दयानन्दके पत्र और विज्ञापन भाग ४, पृष्ठ १८)।

था। पुरानी अराजकताके मुकाबिलेमें यह राज्य एक दैवीय देन समझा जा रहा था। ऐसे समय सुधारकोंका निर्भय होना और उनको अनुयायियोंका मिलना पहले अराजक समयोंकी अपेक्षा एक प्रकारसे आसान भी था, यद्यपि ऋषि दयानन्द जैसे निर्भय सुधारक मुसलमानी राज्यके समय होते तो भी वे किसी शिवाजीकी पीठपर हाथ रखकर वैदिकधर्मकी विजय दुन्दुभि बजा देते। हाँ, वह अवस्था निश्चय ही कुछ अधिक संघर्षकी होती परन्तु जहां यह अवस्था थी वहां विदेशी दासताके प्रभावसे नई संततिमें ईसाइयत, विदेशीसभ्यता, भाषा और वेशकी जो मानसिक गुलामी उत्पन्न हो गई थी वह दयानन्द जसे प्राचीन वैदिक धर्म, सभ्यता, व संस्कृतके पुजारीके मार्गमें बड़ी भारी रुकावट थी। स्वामीजीने आगे चलकर स्वय अनुभव किया कि स्वायत्त शासन न होनेके कारण हम सुधार करनेमें अशक्त हैं। ये भाव उन्होंने नैपालके स्वामी कृष्णानन्दको लिखे पत्रमें व्यक्त किये थे। परन्तु कार्यक्षेत्रमें अवतीर्ण होनेके उन दिनोंमें उन्हें अंग्रेजोंकी न्यायप्रियता पर, साधारण जनताकी भांति पूर्ण विश्वास था। हम उन्हें सन् १८६६ के मई मासमें अजमेरमें मेजर डेविडसन, कमिश्नर और असिस्टैन्ट कमिश्नर कर्नल ब्रुकसे गोहत्या बन्द करवानेके सम्बन्धमें भेंट करते पाते हैं। अस्तु। अगले पृष्ठों में हम देखेंगे कि ऋषिके हृदयमें आर्यजातिको फिरसे 'आर्य' बनानेका जो विचार अंकुरित हुआ, वह किस प्रकार फूला और फला।

३
धर्मचक्र प्रवर्तन

प्रारम्भिक प्रचार

स्वामीजीका सम्पूर्ण जीवन लगभग बीस वर्षोंके तीन खण्डोंमें विभक्त किया जा सकता है। (१) शैशवकाल, जिस समय उनके हृदयमें सच्चे ईश्वर व मृत्युके स्वरूपको जाननेकी तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हुई। (२) जिज्ञासा-पूर्तिके लिए भिन्न २ स्थानोंमें घूमकर शिक्षा उपलब्ध करने का काल (३) सच्चा ज्ञान पाकर उसके प्रचारके लिए देशाटनका समय।

पिछले अध्यायोंमें हमने ऋषि-जीवनके प्रथम दो कालोंका संक्षिप्त परिचय देकर तात्कालिक धार्मिक, सामाजिक व राजनैतिक अवस्थाओंका दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न किया है। इन अध्यायोंमें हम स्वामीजीके आर्यसमाज-स्थापना-काल (सं० १९३१) तकके १२ वर्षोंके प्रचार-कार्यका विवरण संक्षेपमें देंगे।

यह समझना भूल है कि स्वामीजीने कार्यक्षेत्रमें आते ही अपना प्रचार कार्य विस्तृत कर दिया था। गुरुसे बिदा होते समय स्वामीजीके पास ये वस्तुएँ थीं (१) उनके पास संस्कृत-व्याकरण तथा दर्शनशास्त्रका महान् पाण्डित्य था (२) अखण्ड ब्रह्मचर्य, प्रतिभा, उत्साह तथा वक्तृत्व-शक्तिके गुण थे (३) विविध स्थानोंके साधु-सन्तों व महन्तोंकी दशा देखकर हिन्दूधर्ममें बिगाड़का निश्चय हो गया था और उसके दूर करनेका दृढ़ संकल्प भी हो चुका था।

शिवरात्रिके व्रतके दिनसे ही स्वामीजीका मूर्तिपूजामें विश्वास हिल चुका था। सत्संग, विद्याभ्यास तथा मननसे वे मूर्तिपूजाके

कट्टर विरोधी हो गए थे। इसलिए प्रारम्भिक तीन वर्षों (सन् १८६१-१८६३) में स्वामीजीने जो सुधार उपस्थित किये, उनमें मुख्य तथा प्रथम स्थान मूर्तिपूजाके खण्डनका था। ईश्वर-सम्बन्धी अशुद्ध विचारोंकी जड़में यह प्रथम कुठाराघात था। विद्याभ्यास समाप्त करके स्वामीजी मथुरासे आगरा आए। यहींसे धर्मप्रचार शुरू हुआ। वहां यमुनाके किनारे जो उनके सदुपदेश हुए उनमें मूर्तिपूजनका खण्डन जारी रहा।

इन तीन वर्षोंमें स्वामीजीने वैष्णव मतका बहुत खण्डन किया, और कभी २ उसके मुकाबलेमें शैव मतका पक्ष भी लिया।

मथुरा व ब्रजपुरी वैष्णवोंका गढ़ है। यहाँ स्वामीजीको रामानुज तथा बल्लभ सम्प्रदाय की लीलाओंको देखकर विक्षोभ पैदा हुआ। इसलिए आपने शुरू २ में इसी मतका विशेष खण्डन किया। इन दिनों आपने आसपासके इलाक़ों—धौलपुर, ग्वालियर, पुष्कर, जयपुर, अजमेर आदिमें प्रचार कार्य किया। व्याख्यानोंके अतिरिक्त विज्ञापनों तथा शास्त्रार्थोंका भी आपने प्रचारकेलिये उपयोग किया। जयपुर तथा पुष्करमें आपके शास्त्रार्थों की बड़ी धूम रही। पौराणिक लोग निरुत्तर हो गए। अजमेरमें पादरी रौबिन्सन तथा पादरी शूल ब्रेडसे ईश्वर, जीव आदिके विषयपर शास्त्रार्थ हुए जिनमें पादरियोंको निरुत्तर होना पड़ा, और उन्होंने स्वामीजीके पाण्डित्यका सिक्का माना। इसके अतिरिक्त गोरक्षाकी धुन आपको प्रारम्भसे थी। सन् १८६६ में अजमेरमें आपने वहांके कमिश्नरके सम्मुख यह प्रश्न रखा।

शास्त्रार्थ-युग

(संवत् १९२४ से १९२६ तक)

—:o:—

पाखंड खंडिनी पताका

वैशाख संवत् १९२४ तदनुसार १८६७ ईसवीके अप्रैल मासमें हरिद्वारमें कुम्भका बड़ा मेला था। भारतवर्षके चारों कोनोंसे लाखोंकी संख्यामें भक्त नर नारी एकत्र हुए। सब सम्प्रदायोंके प्रतिनिधि महन्त, मठाधीश, अपनी पूरी शानसे हरिद्वारमें जमा हुए। स्वामी दयानन्द भी कुम्भ स्नानसे एक मास पूर्व वहां पहुंच गए, और उन्होंने सप्तस्रोतके पास गंगाकी रेतीमें कुछ छप्पर डाल मध्यमें पाखण्ड खण्डनी पताका गाड़ दी। हिन्दूजनताकी अन्ध-श्रद्धा एवं मूर्खता तथा साधु सन्तों व महन्तोंका पाखण्ड एवं कलुषित जीवन देखकर उनके हृदयमें गहरी ठेस पहुंची। उन्होंने सबको एक ही रोगका शिकार पाया। मथुरामें रहनेके कारण जहां पहले वे वैष्णव मतको अधिक बुरा समझते थे, अब उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दूधर्मके सभी सम्प्रदाय एक ही थैलीके चट्टे बट्टे हैं। अतएव उनका प्रचार-कार्य अधिक विस्तृत होगया। सम्पूर्ण हिन्दूजातिके सुधारमें जुट पड़े। महीना भर हरिद्वारमें व्याख्यान दिये। काशीके प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी विशुद्धानन्दजीसे 'पुरुष सूक्त' पर संस्कृतमें शास्त्रार्थ हुआ। लोग उनसे बहुत प्रभावित हुए। सब जगह उनकी कीर्ति फैल गई।

कुम्भके मेलेके समय स्वामीजीके डेरे पर कई शिष्य साधु ठहरे हुए थे। उस समयकी रीतिके अनुसार उनके रहन सहन

आदिका सम्पूर्ण प्रबन्ध स्वामीजीने किया हुआ था। मठाधीशों व महन्तोंकी भोगसामग्री देखकर उनका हृदय जल उठा। उन्होंने इस बुराईको सुधारनेके लिए पहले अपनेलिए ही सर्वस्व त्यागके मार्गका अवलम्बन किया। कौपीनके अतिरिक्त शेष सब वस्त्र तथा अन्य सामग्री भिखारियों व साधुओंमें बांट दी। स्वयं गंगाके पार चण्डी पर्वतके नीचे कठोर तपस्या करके भावी महायुद्ध-केलिए अपनेको और भी अधिक तय्यार किया।

तदनन्तर कौपीन मात्र धारी ऋषि दयानन्द प्रचारकेलिए निकल पड़े। इन दिनों वे निम्नलिखित आठ बुराइयों व अन्ध-विश्वासोंके खण्डनमें व्याख्यान दिया करते थे—(१) अट्ठारह पुराण, (२) मूर्तिपूजा, (३) शैव, शाक्त, रामानुज आदि सम्प्रदाय, (४) तन्त्र ग्रन्थ, वाममार्ग आदि, (५) भंग, शराब आदि नशीली चीजें, (६) पर-स्त्री-गमन, (७) चोरी, (८) छल, अभिमान, झूठ आदि। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य सबको समान रूपसे गायत्री-जाप व यज्ञोपवीत धारण करनेके समानाधिकारका प्रचार करते थे।

कुछ अमर घटनाएँ

हिन्दू जनताने स्वयं धर्माधर्मके विषयमें विचार करना छोड़ दिया था। वह पण्डितों व पुरोहितोंकी गुलाम होगई थी। इसलिये स्वामीजीने सामान्य व्याख्यान शैलीके साथ २ शास्त्रार्थके उपायको भी अपनाया। इसलिए आपका दौरा अधिकतर संयुक्त-प्रान्तमें रहा। मुख्य २ स्थानोंपर जाकर व्याख्यान दिये। वहाँके पण्डितोंको मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, वर्ण-व्यवस्था आदि विषयोंपर

शास्त्रार्थकेलिए ललकारा। बहुत जगह तो पण्डितोंको सामने आनेका साहस ही नहीं हुआ। अनूपशहर आदिमें पण्डितोंने अपनी पराजय स्वीकार की और मूर्तियाँ गंगामें बहा दीं। इसका जनतापर अच्छा प्रभाव पड़ा। देखादेखी सब लोगोंने मूर्तियां बहा दीं तथा कण्ठियां तोड़ दीं। कुछ लोगोंसे यह न सहा गया, उन्होंने स्वामीजीको पानमें ज़हर दे दिया। स्वामीजीने न्योली क्रिया द्वारा वह विष निकाल दिया। जब उनके भक्त सय्यद मुहम्मद तहसीलदारने अपराधीको कठोर दण्ड देनेकेलिए इच्छा प्रकट की तो स्वामीने जो उत्तर दिया वह उनकी अमर ज्योतिको सदा जगाए रखेगा। आपने कहा—"मैं दुनियाको कैद कराने नहीं आया, वरन् कैदसे छुड़ाने आया हूँ।" ऐसी घटना केवल अनूपशहरमें ही नहीं हुई प्रत्युत शास्त्रार्थसे पराजित हुए ब्राह्मणोंने अनेक स्थानोंपर कुत्सित उपायोंका अवलम्बन किया। मथुरा तथा कर्णवास आदि स्थानोंपर उन्हें गुण्डोंसे पिटवाने तथा वेश्या आदि द्वारा भरी सभामें अपमानित करनेकी कोशिश की गई। परन्तु सूर्यपर फेंका हुआ थूक सदा अपनेपर ही गिरता है। प्रयाग आदि अनेक स्थानोंपर उन्हें विष देनेके असफल व सफल प्रयत्न हुए। सदा सतर्क रहनेके कारण तथा शरीरके अत्यन्त बलवान् होनेके कारण वह बचते रहे।

काशी शास्त्रार्थ

स्वामीजी हिन्दूजातिकी कुरीतियोंका संहार करना चाहते थे। जब तक काशी अपराजिता थी, तब तक पौराणिक धर्मको हारा हुआ नहीं मान सकते थे। जो पण्डित हारता, वह काशीकी

और व्यवस्थाके लिए दौड़ना। इसलिए स्वामीजीने हिन्दूधर्म के गढ़में-काशीपुरीमें- पण्डितोंको ललकारा। कार्तिक सं० १६२६ तदनुसार २२ अक्तूबर १८६६ ई० को स्वामी जी काशी में माधोसिंहके आनन्द बागमें उतरे। काशी--नरेशको कहला भेजा कि यदि सत्यासत्यका निर्णय चाहते हो तो काशीके पण्डितों को शास्त्रार्थके लिए तय्यार करो। पण्डितोंके कथनानुसार १५ दिनकी मुहलत देनेके बाद शास्त्रार्थका दिन आया। पालकी, छत्र, चवंर आदि सामग्रीसे सुसज्जित होकर पण्डित लोग पहुंचे। साथमें हजारोंकी भीड़ स्वामीजीको पराजित हुआ देखनेके लिए आई, क्योंकि उन्हें बताया गयाथा कि एक नास्तिक आया है जो विश्वनाथकी पुरीमें विश्वनाथको गाली देता है। गुण्डोंकी संख्याभी कम न थी। उस समयके स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बाल-शास्त्री तथा नारायण आदि सभी बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र हुए। आते ही स्वामीजीको घेरकर बैठ गए। स्वामीजीके भक्तोंने भय प्रकट किया। परन्तु उस पूर्ण ब्रह्मचारीको तो परमात्माका पूर्ण विश्वास था। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। सब पण्डितोंने एक साथ विविध प्रश्नोंकी बौछारकी। परन्तु स्वामीजीने अपने पाण्डित्यके प्रभावसे सबको निरुत्तर करदिया। वे बड़े-बड़े पण्डित स्वामीजीके धर्म सम्बन्धी तथा व्याकरणके प्रश्नोंका उत्तर न दे सके। लाचार होकर पण्डित लोग स्वामीजीको इधर उधरकी बातोंमें उलझाने लगे, और हल्ला-गुल्ला करके बीच में उठ खड़े हुए। काशी-नरेश का इशारा पाकर सारी जनता उठ खड़ी हुई। गुण्डोंने ईंट, कंकर, जूते वगैरह फेंकने शुरू किए। परन्तु ऋषि दयानन्द शांत, गम्भीर

खड़े रहे। इस अपमानको भी अमृतको तरह पीगए। पण्डितोंने शहरमें अपनी विजय-घोषणा की और कहा कि नास्तिक स्वामीके पास जो जाएगा वह पातकी हो जाएगा। परन्तु कागजके फूलोंसे सचाईको छिपाया नहीं जासका। पं० सत्यव्रत सामश्रमीजीने अपनी 'प्रत्नकमल नन्दिनी' नामक मासिक पत्रिकामें स्वामीजीकी सफलताको घोषणाकी। एवं 'रुहेल खण्ड' 'ज्ञानप्रदायिनी' 'हिंदू पेट्रियेट' आदि अनेक पत्र पत्रिकाओंने स्वामीजीको विजयको स्वीकार किया। पण्डितोंके विज्ञापनोंनेभी कोई असर न किया। लोग नित्य-प्रति लंगोटी बद्ध संन्यासीके उपदेश सुनने आते और प्रभावित होते।

काशी-विजयके बाद स्वामीजीकी सचाई व पाण्डित्यकी गूंज चारों तरफ फैल गई। अब पण्डितोंकी स्वामीजीसे टक्कर लेनेकी रही सही हिम्मतभी जाती रही। इस प्रकार स्वामीजीके प्रचार कार्यके प्रथम तीन वर्ष जहां मथुरा तथा आसपासके रजवाड़ेमें बीते, वहां अगले तीन वर्ष अधिकतर युक्तप्रांतमें पण्डितोंसे शास्त्रार्थ करनेमें गुजरे।

रचनात्मक कार्यक्रम

धीरे २ स्वामीजीके प्रचारका क्षेत्र विस्तृत हो रहा था। अब स्वामीजीने अपने डेरेपरही उपदेश देने तथा शास्त्रार्थको प्रधानता देना छोड़कर सभाके नियमोंका आश्रय लिया। अब तक स्वामीजीके व्याख्यान संस्कृतमें होते थे, अब उन्होंने शनैः २ हिन्दीमें व्याख्यान देने शुरू किए। अब कौपीनमात्र धारण करके सभा में जाने के बजाय साधारण वस्त्र पहन कर जाया

करते थे। इस प्रकार स्वामीजीका प्रचारका क्रम अवस्थानुसार बदलता गया और लोकोपकारके लिए अधिक सहायक सिद्ध हुआ। अब तकका कार्य क्रम अधिकतर पण्डितोंके प्रभावको कम करनेके लिए संन्यासियोंकी प्राचीन पद्धतिको कायम रखते हुए किया गया था। पण्डितोंके परास्त करनेके बाद आम जनतामें विचार फैलानेके लिए आपने उक्त मार्गका आश्रय लिया। और शनैः२ शास्त्रार्थका कार्य कम करके पुस्तक-रचना तथा संगठन आदि स्थिर निर्माण कार्य आरम्भ किए। स्वामीजीके व्याख्यानोंके संग्रह रूपमें सत्यार्थ प्रकाश इन्हीं दिनों तय्यार हो रहा था।

बनारससे प्रयाग होते हुए स्वामीजी एक मास मिर्जापुर ठहरे। वहाँसे फिर बनारस वापिस आए। इस बार काशी नरेशने अपने पिछले कृत्यका प्रायश्चित्त किया और स्वामीजीसे क्षमा मांगी। उनके आने तथा ठहरनेका सारा प्रबन्ध उसने अपनी ओरसे किया। सच है, अन्तमें सत्यही विजयी होता है।

महापुरुषों की भेंट

इसी प्रसंगमें आप कलकत्ता पहुंचे। उन दिनों बङ्गालमें ब्रह्म-समाजकी लहर चल रही थी। बाबू केशवचन्द्र सेनका सितारा चमक रहा था। ब्रह्म समाजियोंनेभी आपका स्वागत किया। श्रीहेमचन्द्र चक्रवर्ती ब्राह्म समाजी होते हुएभी केशवचन्द्र सेनके ईसाइयतकी ओर झुकानसे असन्तुष्ट थे। स्वामीजीके व्याख्यानों का उनपर विशेष प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्वामीजीसे योग सीखना शुरू कर दिया।

केशवचन्द्र सेन उन दिनों बाहर गए हुए थे। कलकत्ता आने पर स्वामीजीका आगमन सुनकर मिलने गए। दोनोंने मिलकर

बड़ी प्रसन्नता अनुभव की। क्योंकि दोनोंही देशकी दुरवस्थासे व्यथित थे और उसे सुधारनेमें प्रयत्नशील थे। दोनोंही उत्तम वक्ता तथा प्रभावशाली महापुरुष थे। परन्तु दोनोंके दृष्टि कोण में कुछ भेदभी था। सेन महोदय ईश्वरीय ज्ञानमें विश्वास नहीं करते थे, ईसाइयतकी तरफ उनका झुकाव अधिक था, तथा अंग्रेजी साहित्यको प्रधानता देते थे और किसी नये धर्मकी स्थापना करनेकी प्रबल इच्छा उनके मनमें रहती थी। दूसरी तरफ ऋषि दयानन्द वेदोंको ईश्वरीय ज्ञान मानते थे, ईसाइयतकी अपेक्षा वैदिकधर्मको कई दर्जा अच्छा समझते थे, ईसाइयोंसे शास्त्रार्थ करते थे, वैदिक साहित्यसे शक्ति लेते थे, तथा ब्रह्मासे जैमिनी पर्यन्त ऋषियोंसे प्रतिपादित वैदिकधर्मकी पुनः स्थापना करना चाहते थे, नए मतकी स्थापनासे उन्हें घृणा थी। संक्षेपतः एककी प्रवृत्ति पश्चिमाभिमुखी थी तो दूसरे की पूर्वाभिमुखी। दोनों व्यक्तियों के स्वभाव में भी कई अंशों में भेद था। परन्तु दोनों ही गुणग्राही थे। इस मिलन से दोनों ने एक दूसरे से कुछ न कुछ ग्रहण किया। पहले केशवचन्द्र सेनका ईसाइयत की ओर बहुत अधिक झुकाव था और योग तथा वेद आदि की तरफ कोई ध्यान न था। परन्तु स्वामीजी के संपर्क से दोनों दिशाओं में परिवर्तन हुआ। इधर स्वामी जी में भी परिवर्तन आया। वह उनके विचारों में नहीं, परन्तु कार्यक्रम में। सेनके कहने पर ही आपने हिन्दी में व्याख्यान देने शुरू किये, सभाओं में वस्त्र पहन कर जाना शुरू किया। आर्य समाज के संगठन का विचार भी ब्रह्म समाज को देखने से उनके हृदय में

पैदा हुआ। ब्राह्मोसमाज के सिद्धान्तों तथा संगठन की अपूर्णता को देखकर स्वामी जी ने कुछ भिन्न शैली पर आर्य समाज की स्थापना की।

—*—

४
आर्यसमाज की स्थापना

आर्यजातिमें ऋषिका पक्षपात

गुरुसे बिदा होकर स्वामी दयानन्दजीने वैष्णव मतके खण्डनसे जो कार्य शुरू कियाथा, वह शनैः शनैः सम्पूर्ण हिन्दूमत-मतान्तरोंपर लागू हुआ। सब हिन्दू सम्प्रदायोंकी बुराइयां प्रकट कर सच्चे वैदिक धर्मका स्वरूप दर्शाया। इससे मुसलमानों व ईसाइयोंको भी अपने धर्मकी रक्षाकी चिन्ता हुई। स्वामीजी का उनसे भी खूब शास्त्रार्थ हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि ईसाई व मुसलमान हिन्दूजातिको खा रहे थे। स्वामीजी आर्य-जातिके रक्षक बने और मुसलमानों व ईसाइयोंकी बाढ़को रोकने लगे। अथवा यों कह सकते हैं कि स्वामीजी ने पौराणिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम तथा ईसाई धर्मकी भ्रान्तियां दूर करनेकेलिए सबका समान रूपसे (देखो सत्यार्थप्रकाश उत्तरार्ध भाग) खण्डन किया और वैदिक धर्ममें लानेकी कोशिश की। उन्हें केवल आर्यजातिसे ही प्रेम न था। वे तो मनुष्यमात्रसे प्रेम करते थे। वह ईसाईहो या मुसलमान सभी उनकी कृपा व प्रेमके पात्र थे। परन्तु फिर भी उन्हें आर्यजातिसे अपेक्षाकृत विशेष प्रेम था। उदार व्यक्तियों में विश्वबन्धुत्व की भावना होते हुएभी गुणों की

दृष्टि से किसी न किसी में विशेष पक्षपात होता ही है। वह आर्य जाति को अन्य सब जातियों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट समझते थे। वेद धर्म का स्रोत है, केवल आर्य जाति ही है, जो उन्हें प्रामाणिक मानती है। वैदिक ज्ञान के अवशेष यदि कहीं थे, तो आर्य जाति के पास ही थे। यद्यपि उसमें बहुत बिगाड़ होगया था, फिर भी उसको पूर्व रूप में लाना आसान था। क्योंकि वहां केवल कांट-छांट की आवश्यकता थी। अन्य मतों में तो रूपका सर्वथा परिवर्तन अभीष्ट था। स्वामी जी ने आर्य जातिकी रक्षा और सुधारमें अन्यधर्मोंको बाधक पाया। वे आर्य जातिको सुधार कर संसारकी भलाईका साधन बनाना चाहते थे। इस लिए आर्य जातिकी रक्षाकेलिए उन्हें इसलाम व ईसाइयत पर प्रत्याक्रमण करने पड़े। इसमें भी हृदयकी भावना मनुष्यमात्रके सुधारकी थी। वे चाहते थे कि आर्य जाति अपना धर्म छोड़ कर ईसाई व मुसलमान न बने, प्रत्युत अपने धर्मके सच्चे रूपको समझकर अपना सुधार करे। साथ ही अन्यधर्म भी वैदिक धर्म की शरण में आवें। इस लिए वैदिक धर्म के प्रचार के साथ २ उस जाति-आर्य-जातिकी रक्षा करना भी स्वामीजी के शास्त्रार्थों का प्रयोजन रहा जो थोड़े से सुधारों से ही अपने सच्चे धर्म को प्राप्त कर सकती है। इन्हीं भावनाओं के साथ स्वामी जी ने आर्य जाति को संगठित करने का प्रयत्न किया और आर्य समाज की स्थापना की।

बम्बई में पहिला आर्यसमाज

बम्बईके समाज सुधारक बहुत देर से स्वामीजी को

बुलानेका प्रयत्न कर रहे थे, जिससे कि वह बम्बई में आकर वल्लभ सम्प्रदाय का खण्डन कर हिन्दु जाति में जागृति उत्पन्न कर सकें। पं० सेवकलाल जी प्रभृति भक्तजनों ने काशी-शास्त्रार्थ की प्रतियां पहले ही शहर में बटवांदी थीं। स्टेशनपर स्वामीजी का खूब स्वागत किया गया। स्वामीजीने व्याख्यानोंकी झड़ी लगादी। वल्लभ सम्प्रदायका खूब खण्डन किया गया। उनके अनुयायियोंमें हलचल मच गई। उन्होंने एकबार विष देने की भी कोशिश की। परन्तु स्वामीजी सदा सावधान रहते थे। बहुतसी आपत्तियां तो उनकी सावधानता के कारण ही दूर हो जाती थीं। इस प्रकार कई बार शास्त्रार्थ हुए। काठियावाड़ तथा पूने में लगभग ५ मास प्रचार हुआ। बम्बई तो हिल गया। वल्लभ-सम्प्रदाय के गुरु शास्त्रार्थ से घबरा कर भागने लगे। जिसने काशी को पराजित कर दिया था उसे कौन परास्त कर सकता था !

प्रचारके अतिरिक्त एक और कार्य भी था जिसके लिए बम्बईके भक्तजन, जिनमें अधिकांश प्रार्थना समाजी थे, उन्हें शीघ्र बुलाना चाहते थे। सुधरे हुए विचारोंके लोग हजारोंकी संख्या में देश में फैले हुए थे। वे लोग बिखरे हुए मोतियों की तरह इधर उधर पड़े थे। माला में पिरोने की आवश्यकता थी। इसलिए उनको संगठित करनेके लिए आर्यसमाजकी स्थापना का विचार किया गया। पहले तो स्वामीजी को कार्यवश बीचमें ही सूरत, भरोच, अहमदाबाद, राजकोट आदि स्थानों पर जाना पड़ा। परन्तु तीन मास बाद लौट कर स्वामीजी वापिस

आए। राजमान्य राजश्री पानाचन्द्र आनन्द जी सर्वसम्मति से आर्यसमाजका मसविदा बनानेके लिए नियत किए गए। उस मसविदे पर विचार करके चैत्र सुदी १ सं० १९३२ तदनुसार ७ अप्रैल १८७५ ई० को गिरगांव में डा० मानिकचन्द जी की वाटिका में नियमपूर्वक आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्य समाजके २८ नियम बनाये गए, जिनमें उद्देश्य, नियम, उपनियम आदि सब कुछ आगए। वर्तमान दस नियम तो लाहौरमें बादमें बनाए गये। ये २८ नियम अध्ययन करने योग्य हैं, इनमें स्वामीजी के हृदयके प्रतिबिम्ब का स्पष्ट आभास मिलता है।

यद्यपि आर्य समाज के व्यवहारिक संगठन पर ब्राह्मो समाज का प्रभाव था, जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, तथापि यह आर्य समाज जातिके लिए अधिक उपयोगी तथा समयानुकूल था। इसी कारण शीघ्र यह संस्था सारे देशमें फैल गई।

प्रत्येक समाजके लिए कोई न कोई आधार चाहिए। आर्य समाजका आधार वेद है। परन्तु ये सर्वसाधारणके लिए अगम्य थे। इसलिए ऐसे ग्रन्थकी आवश्यकता थी, जिसे पढ़कर लोग आर्य समाजमें प्रविष्ट होनेसे पूर्व अपने सिद्धान्त व कर्तव्य जान सकें। सौभाग्यसे राजा जयकृष्णदासकी प्रेरणा से एक ऐसा ग्रन्थ तैयार हो गया था। स्वामीजीके उपदेशों तथा व्याख्यानोंके आधार पर 'सत्यार्थ प्रकाश' प्रकाशित हो चुका था। बम्बई में स्वामीजी ने आर्याभिविनय तथा संस्कारविधि छपवा दिये थे। वेदभाष्यके प्रकाशित करनेकी तैयारियां होरही थीं। अन्य छोटे-मोटे ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्य भी जोरोंसे शुरू होरहा था।

इस प्रकार बम्बई प्रान्तमें दौरा करते तथा आर्यसमाजें स्थापित करते हुए स्वामीजी बड़ौदा पहुंचे। वहाँ राज्यके अतिथि बने। बड़े-बड़े उच्च राज्याधिकारी भी आपका उपदेश सुनने आते थे। एक बार आपने राजनीति पर भी व्याख्यान दिया। अंग्रेजीसे अपरिचित व्यक्तिसे राजनीतिके गूढ़ तत्वोंकी विवेचना सुन श्रोता लोग दंग रह गए।

इसके बाद जुलाई सन १८७५ ई० में श्रीयुत महादेव गोविन्द रानडेके निमन्त्रण पर आप पूना गए। वहाँ आपकी सवारी निकाली गई। पूना महाराष्ट्रका केन्द्र है तथा ब्राह्मणोंका गढ़। उनसे भिड़ना साहस का काम था। वहां स्वामीजी के १५ बड़े प्रभावशाली व्याख्यान हुए। ये संग्रह रूपमें भी छप चुके हैं। इन व्याख्यानों से बड़ी हलचल मच गई। हठधर्मियों ने कीचड़, कंकर आदि उछाल कर स्वामीजी को हतोत्साह करना चाहा परन्तु उस शेरने तो घबराना सीखा ही न था। सचाईका दीवाना उसी तरह प्रचार करता रहा।

पुनरावृत्ति के लिए कुछ प्रश्न

-*-

(१) आर्यसमाजके प्रवर्तक कौन थे ? उनके हृदयमें आर्य-समाजरूपी वृक्षका बीज कैसे अंकुरित हुआ ?

(२) ऋषिदयानन्दकी मुक्ति और ब्रह्मानन्दकी अभिलाषा वैदिकधर्मके प्रचारके रूप में कैसे परिणत हो गई ?

(३) आर्यसमाजकी स्थापनाके समय भारतवर्षमें क्या परिस्थिति थी ?

(४) ऋषिदयानन्द द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तनके प्रारम्भिक वर्षों का वर्णन कीजिए ?

(५) ऋषिके कुछ प्रसिद्ध शास्त्रार्थोंका उल्लेख करते हुए उनके परिणामकी ओर निर्देश कीजिए ?

(६) प्रथम आर्यसमाजकी स्थापना नियमपूर्वक कहां और कब हुई ?

(७) आर्यसमाजकी स्थापनाका उद्देश्य बतलाइए ? तत्कालीन लिखित उद्देश्य को देखे बिना, आप यह कैसे जान सकते हैं ?

प्रवर्तक का पथप्रदर्शन

(संवत् १९३२ वि० से ऋषि-निर्वाण तक)

—:*:—

विषय प्रवेश

—o—

प्रथम आर्यसमाजकी स्थापनाके ८ वर्ष पश्चात् सम्वत् १९४० की दीपावलीकी सायंकाल ऋषिदयानन्द परलोक सिधारे। इन साढ़ेआठ वर्षोंमें भारतके विभिन्न स्थानों, विशेषतः उत्तरीय प्रान्तों–पंजाब, संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध तथा राजपूतानामें, ऋषिके अनुयायियोंकी संख्या बढ़ी और आर्यसमाजोंकी स्थापना हुई। जहां-जहां ऋषि पधारते थे, आर्यसमाजकी स्थापना हो जाती थी। प्रान्तों और जिलोंके मुख्य नगरोंमें ऋषिका निवास कुछ अधिक देर तक रहता, इसलिये वहां दूर दूरसे उनके भक्त व जिज्ञासु एकत्र हो जाते और वे उनका संदेश ले अपने-अपने स्थानों पर जा आर्यसमाजकी स्थापना करते। इस प्रकार सुधारकोंका यह दल निरन्तर बढ़ता जा रहा था।

आर्यसमाजका संगठन, ऐसा लोकतन्त्र था कि एक साधारण व्यक्तिभी इसका नियमपूर्वक सभासद् बन जाने पर अपना कुछ दायित्व और अधिकार अनुभव करता था। लाहौर आर्यसमाज की अन्तरङ्ग सभाके एक अधिवेशनमें स्वामीजी अकस्मात् पहुंच गए। उस समय वहां उपनियमों पर विचार हो रहा था। सभासदों ने प्रस्तुत विषय पर स्वामीजीकी सम्मति मांगी। ऋषिने कहा—

"मैं आपकी अन्तरङ्ग सभाका सभासद् नहीं हूं, इसलिए सम्मति नहीं दे सकता।" इस छोटीसी घटनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषिदयानन्द अपने जीते-जी ही नहीं, आरम्भसे ही आर्यसमाज को अपने पैरों पर खड़ा हुआ देखना चाहते थे। वे और धर्म गुरुओंके समान आर्यसमाजके 'सर्वे सर्वा' तो क्या इसके 'परमसहायक'की पद्वीको भी केवल 'ईश्वरके योग्य' मानते थे और एक साधारण सेवककी स्थितिमें ही सन्तुष्ट थे।

परन्तु इस समय तक सारे देशभरकी किसी 'मुख्य समाजकी' स्थापना नहीं हो पायी थी। यह आवश्यक था कि विभिन्न आर्य-समाजोंकी रीति-नीतिको एक सूत्र में बांधे रखने के लिए कोई एक केन्द्र हो। एक भाषा, एक धर्म, और एक संस्कृति, आर्य-समाजकी स्थापनाका मूल उद्देश्य था। इस मूल उद्देश्यकी पूर्तिकी साधनभूत आर्यसमाजोंमें ऐक्यको बनाए रखनेकेलिए एक केन्द्रीय शक्ति नितान्त आवश्यक थी। आर्यसमाजियोंको स्वप्नमेंभी यह ध्यान नहीं था कि उनका बालब्रह्मचारी आचार्य इस प्रकार षड्यन्त्र का शिकार हो उनसे एकाएक छिन जायगा। इसलिए वे निश्चिन्त थे और अपनी सारी कठिनाइयोंका हल स्वामीजीको ही समझते थे। इसलिए जहां प्रत्येक आर्यसमाजी और विभिन्न आर्यसमाजें अपने-अपने स्थान पर आर्यसमाजकी उन्नति कर रहे थे और इस प्रकार आर्यसमाजके इतिहासका अंग बन रहे थे, वहां इसमें भी कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आर्यसमाजकी प्रगतिका मुख्य केन्द्र इस कालमें ऋषि दयानन्द ही थे। एक प्रकारसे ऋषिदयानन्द का इतिहास, उनकी गति-विधिका इतिहास, ही इस समयके आर्य-

समाजका इतिहास है। यहां हम उनके जीवनसे कुछ ऐसी घटनाओंका उल्लेख करेंगे जिनका सम्बन्ध किसी किसी विशेष आर्यसमाजसे न होकर समस्त आर्यजगत्से है और देखेंगे कि इन दिनों आर्यसमाजका रुख कैसा रहा ?

१

साम्प्रदायिक एकताका पहला प्रयत्न

बम्बईमें आर्यसमाजकी स्थापनाके पश्चात् ऋषि दयानन्द ने पूना, काठियावाड़ और फिर गुजरात प्रान्त में धर्मप्रचार किया। इन्हीं दिनों संस्कारविधि और आर्याभिविनय तथा वेदान्तिध्वान्तनिवारण आदि ग्रन्थ तय्यार हुए। सत्यार्थ प्रकाश आर्यसमाजकी स्थापनासे पहलेही प्रकाशित होचुका था।

१ जनवरी सन् १८७७ (सं० १९३३ वि०) को दिल्ली में महारानी विक्टोरियाके भारतकी महारानी होनेकी उद्घोषणा के सम्बन्ध में एक दरबार होरहा था। ऋषिने इस अवसर को दो कार्यों के लिए चुना (१) प्रथम तो यह कि 'यथा राजा तथा प्रजा' कहावत की सचाई को अनुभव करते हुए उन्होंने सोचाकि यदि देशके रईस सुधर जायं तो प्रजाके सुधार में बहुत सुभीता होगा। इसलिए आपने प्रायः सब राजा महाराजाओं को अपने इस विचार की सूचना भेजदी। इन्दौर नरेश ने प्रयत्न भी किया कि सब नरेश एक सभा में एकत्र हो स्वामीजी के सिद्धान्तों का श्रवण करें, परन्तु देश के दौर्भाग्य से ऋषि का यह विचार फलीभूत नहीं हुआ। (२) इस महान् मेले से

दूसरा लाभ ऋषिने यह उठाना चाहा कि देश के सभी सुधारक और सम्प्रदाय मिलाकर देशभरके लिए कुछ सर्वमान्य धर्मके नियम मानलें और उन पर आचरण करें। उनका दृढ़ विश्वास था कि सत्यधर्म एक ही है। इस कार्यके लिए उन्होंने दिल्ली में अनेक सुधारकोंको निमंत्रण दिया। इस निमंत्रणपर ब्राह्मो-समाजके नेता बा० केशवचन्द्रसेन, व बा० नवीनचन्द्र राय, मुसलमानों के प्रसिद्ध नेता सर सय्यद अहमद, प्रसिद्ध सुधारक मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी हिन्दूधर्म पर मुसलमानों के आक्रमणों का उत्तर देने वाले प्रसिद्ध मुंशी इन्द्रमणि और बम्बई के प्रसिद्ध आर्यसमाजी बा० हरिश्चन्द्र चिन्तामणी पधारे। स्वामीजी ने देश के अभ्युदय और कल्याण के लिए देशभर के लिये एक धर्मकी स्थापनाका प्रस्ताव रखा और इसका मूल वेद बताया। प्रतीत होता है कि वेदको ईश्वरकृत अतएव निभ्रान्त माननेके प्रश्नपर यह गुप्त सभा भङ्ग होगई और स्वामीजी को इस पवित्र कार्यमें सफलता नहीं मिल सकी। कुछ-कुछ इसी प्रकारका प्रयत्न १८ मार्च से २० मार्च १९७७ तक चान्दपुर (जिला शाहजहांपुर) में हुए "आनन्द स्वरूप मेले" में किया गया। कबीर पंथियोंने ईसाई पादरियोंके आक्रमणोंसे तङ्ग होकर सत्यासत्यका निर्णय करनेके लिए इस मेलेका आयोजन किया था। स्वामीजी भी सूचना मिलनेपर यहां पधारे। उनके प्रमाण और युक्तियों का खूब सिक्का जमा। परन्तु सत्यासत्य को स्वीकार करलेने का अन्तिम निर्णय इस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ से भी नहीं हुआ।

२

नियमोंका संशोधन

—*—

यहां से स्वामीजी पंजाब की ओर चले, लुधयाने होते हुए आप १६ अप्रैल को लाहौर पहुंचे। पंजाबियों में कट्टरपन के संस्कार नहीं थे, वे ग्रहणशील भी अधिक होते हैं। स्वामीजी के यहां आगमन से पूर्व पंजाबमें ईसाइयत की लहर चल रही थी। पश्चिमी विज्ञान और सभ्यता का एक प्रवाह बह रहा था, जिसमें नवयुवक बहे चले जारहे थे। आर्यसमाजके प्रचारने इस बहावको रोक दिया। लाहौर में स्वामीजी पहले ब्रह्मोसमाजियों के और फिर एक मूर्तिपूजकके अतिथि बने। परन्तु सत्य के प्रचारके कारण स्वामीजी के ये मेजबान स्वामीजीसे असन्तुष्ट होगए। स्वामीजी का एक ही उत्तर था--"मैं लोगों को या महाराज कश्मीर को प्रसन्न करूं या ईश्वरीय आज्ञाका पालन करूं ?" शीघ्रही लाहौर में डा० रहीमखां की कोठी पर आर्यसमाज की स्थापना हुई।

लाहौर में आर्यसमाजकी स्थापना के साथ एक विशेष घटना हुई। बम्बई में आर्यसमाज के २८ नियम बनाये गये थे जिनमें उद्देश्यों के अतिरिक्त सभासदों की योग्यता, पदाधिकारियों की नियुक्ति के नियम कार्यवाही के नियम और सभी बातें समाविष्ट थीं। लाहौरमें आर्यसमाजके उद्देश्यको अधिक स्पष्ट और व्यापक रूपमें रखनेके लिए १० नियम बना दिए गए

और उपनियम पृथक् रखे गए। इन उपनियमोंमें सभासद्की योग्यता समाजका संगठन, अधिवेशनोंकी कार्यवाही आदिके नियम निर्धारित किये गये। और नियमों में आर्यसमाजका स्वरूप पहले से अधिक व्यापक, उदार और स्पष्ट कर दिया गया। नियमों का परिवर्तन स्वामीजी की अनुमति से हुआ। उपनियम पीछे से लाहौर आर्यसमाजने बनाये। पीछे से य ही नियम, और उपनियम बम्बई तथा अन्य समाजों ने भी स्वीकार कर लिये।

लाहौर से निश्चिन्त होकर स्वामीजीने अमृतसर, गुरुदासपुर जालन्धर. फीरोजपुर छावनी, रावलपिंडी, गुजरात, वजीराबाद गुजरांवाला, मुल्तान छावनी आदि स्थानोंमें भ्रमण किया। पंजाब का पौराणिक दल पंडितों से प्राय:शून्य था, इसलिए यहां ऋषियोंके व्याख्यानोंके उत्तरमें शास्त्रार्थ या व्याख्यान तो क्या होते थे, गाली और पत्थरोंकी ही भरमार रही। परन्तु आर्यसमाजका प्रवर्तक अपने उचित मार्ग से कब हटने वाला था?

जुलाई सन् १८७८ में ऋषि दयानन्द संयुक्तप्रान्त पहुंचे। रुड़की, मेरठ, दिल्ली, अजमेर, नसीराबाद, जयपुर, रिवाड़ी, हरिद्वार, देहरादून, मुरादाबाद, बरेली, शाहाजहांपुर, लखनऊ, फर्रुखाबाद, कानपुर, इलाहाबाद आगरा आदि स्थानोंमें इन्हीं दिनों आर्यसमाजें स्थापित हुईं। इनमेंसे कई स्थानों पर तो दौरेके सिलसिले में कई बार स्वामीजीके धर्मोपदेश हुए। आगरे से स्वामीजी सन् १८८१ में अजमेर चले गये।

३

आर्य रक्षानिधि का स्वप्न

प्रतीत होता है कि विधर्मी विशेषकर मुसलमान इस्लामकी आलोचनासे घबरा उठे थे। फरवरी सन् १८८० ई० में बनारसमें हम स्वामीजीके व्याख्यानों पर प्रतिबन्ध लगा पाते हैं। परन्तु स्वामीजीको अपने पक्षकी सत्यता और अपनी नेकदिली पर भरोसा था—उनका अभिप्राय किसीका जी दुखानेका नहीं था। उन्होंने सरकारका प्रतिबन्ध माना, उसके सामने अपना लिखित प्रतिवाद भेजा। अन्तमें सरकारने यह अनावश्यक प्रतिबन्ध हटा लिया। इन्हीं दिनों मुरादाबादके मुन्शी इन्द्रमणि इस्लामकी आलोचनामें पुस्तकें लिख रहे थे—उनका अपना प्रेस था। मुसलमानोंके आन्दोलन पर मजिस्ट्रेटने इनकी पुस्तकें ज़ब्त करलीं और ५००) रुपए जुर्माना कर दिया।

मुन्शीजी उन दिनों आर्यसमाज मुरादाबादके प्रधान थे। भागे-भागे स्वामीजीके पास पहुँचे। आर्यपुरुषोंकी सम्मतिसे स्वामीजीने ऐसे आक्रमणोंकी भविष्यमेंभी सम्भावना देख एक निधि स्थापित की और उसकेलिये धन एकत्र करनेकी अपील निकाली। अपील पर पर्याप्त धन एकत्र हुआ। मुकद्मा लड़ा गया, जिसके परिणाम स्वरूप मुन्शीजीका जुर्माना कुछ कम होगया; रहा-सहा जुर्माना भी गवर्नर जनरल ने क्षमा कर दिया। परन्तु मुन्शी इन्द्रमणिने यहां बेईमानी की, जो रुपया सीधा उनके पास आया उसका हिसाब न देकर उलटा स्वामीजी व बा०

रामशरणदास पर यह आरोप लगाने लगा कि मेरी सहायतार्थ आया हुआ धन इन्होंने मुझे नहीं दिया। समाचार-पत्रों तक में वे आगये—परन्तु स्वामीजी द्वारा सारी बात स्पष्ट कर देने पर स्वयं हिसाब देनेका नाम भी नहीं लिया। मुन्शी इन्द्रमणिकी इस बेईमानीका फल यह हुआ कि स्वामीजीने मुकदमेसे बचा हुआ सारा धन दानियोंको उनके दानकी मात्राके अनुपातसे वापस लौटा दिया और 'आर्य रक्षा समिति' की स्थापनाका यह बीज गर्भमें ही नष्ट होगया।

मुन्शी इन्द्रमणिके इस पतनपर स्वामीजीको दुःख हुआ। उन्होंने आर्यसमाज मुरादाबादको सलाह दी कि मेरी निन्दा की तो कोई परवाह नहीं है परन्तु देशकी उन्नति और हितकी दृष्टिसे ऐसे मिथ्याचारी लोगोंको समाजमें रखना ठीक नहीं।

४
थ्योसोफिकल सोसाइटी और आर्यसमाज

थ्योसोफिकल सोसाइटीसे आर्यसमाजके सम्बन्ध-विच्छेदकी घोषणा इन्हीं दिनों की गई। (संवत् १९९७ में हम सार्व देशिक आर्यप्रतिनिधिसभा को पुनः यह घोषणा करते देखते हैं कि थ्योसोफिकल सोसाइटीका सभासद् आर्यसमाजका सभासद् नहीं होसकता) हम यह देखेंगे कि यह सोसाइटी क्या है, आर्यसमाज का इससे क्या सम्बन्ध रहा और उसके विच्छेद के क्या कारण थे।

सोसाइटी का परिचय

नवम्बर सन् १८७५ में अमरीकामें थ्योसोफिकल सोसाइटी की स्थापना हुई थी। इसके संस्थापक मैडम ब्लैवेट्स्की और कर्नल अल्काट थे। मैडम एक रूस प्रवासी जर्मन परिवारकी कन्या थी। विवाहके तीन मास पश्चात् ही वह अपना देश छोड़ भागी और संदिग्ध जीवन व्यतीत करती रही। इसके पश्चात् भी उसने दो विवाह और किये। इस अन्तरमें वह मिश्र आदिमें घूमती रही और जादू टोना आदि सीखती रही। तदनन्तर वह आजीविकार्थ अमरीका पहुँची। यहां सन् १८७४ में इसका कर्नल अल्काटसे परिचय हुआ। दोनोंने मिलकर 'चमत्कार सभा' बनाई और चमत्कार दिखाकर धन कमाने लगे। तब भी भोजनकी दिक्कत रही। अन्तमें इन्होंने थ्योसोफिकल सोसाइटी-की स्थापना की। इसी सिलसिलेमें मैडमने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आइसिस अनवेल्ड' (Isis Unveiled) लिखी। इसमें ईसाइ-यतपर आक्षेप और प्राचीन धर्मोंका समर्थन किया गया था, जादू और चमत्कारको सम्भव दिखाया गया था। पुस्तक अनूठी थी। परन्तु पुस्तकके जिस 'नवीनता' के गुणके आधारपर उसकी बिक्री थी, एक लेखकने उसकी पोल खोल दी और बतलाया कि कुछ पुस्तकोंसे लेकर ही उक्त पुस्तक लिखी गई है। इन नेताओंकी पोल होम आदि और कई लेखकोंने भी खोली। इस प्रकार अमरीका में भी उनकी स्थिति बिगड़ गई। मैडम की उस समय की स्थिति उसकी एक चिट्ठीसे स्पष्ट होती है। वे लिखती हैं—"मैं इसीलिये भारतको जारही हूं। लज्जा और खिजलाहट से तंग

आकर मैं ऐसे स्थान पर जाना चाहती हूं जहां मेरा नाम कोई न जानता हो।"*

आर्यसमाजकी शाखा बनना

इस परिस्थितिमें थ्योसोफिकल सोसाइटीके संस्थापकोंने भारत आने का निश्चय किया। श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणिने कर्नलअल्काट को स्वामीजीका परिचय दिया। उन्होंने इस परिचयसे लाभ उठाना चाहा। सोसाइटीके प्रधान कर्नल अल्काट का पहला पत्र स्वामीजीको जनवरी सन् १८७८ ई० में मिला। इस पत्रमें लिखाथा—"हमें नास्तिक अविश्वासी और धर्महीन कहा गया है। हम केवल युवक और जोशीले लोगोंकी ही सहायता नहीं चाहते, बुद्धिमान् और सम्मानित लोगों की सहायताभी चाहते हैं। आपके चरणोंमें इस प्रकार आते हैं जैसे पिताके चरणोंमें पुत्र आताहै। हे गुरुमहाराज ! हमारी ओर देखिये और बताइये कि हमें क्या करना चाहिये।" इसके पश्चात् भी अनेक पत्र आते रहे। २१ मई सन् १८७८ ई० के पत्रमें कर्नलने स्पष्ट ही यह लिखा कि "हमारी सोसाइटी आर्यसमाजकी शाखा विख्यात की जाय।" २२ मईको सोसाइटीने सर्वसम्मतिसे अपनी सोसाइटी को आर्यसमाजमें मिलाने का निश्चय किया और उसका नाम "थ्योसाफिकल सोसाइटी ऑव आर्यसमाज ऑव इन्डिया"

*"It is for this that I am going for ever to India, and for very shame and vexation I want to go where no one will know my name".

रखा। साथही ऋषि दयानन्दको पथप्रदर्शक अथवा मुखिया स्वीकार किया।

झगड़े के कुछ मुख्य २ कारण

सन् १८७६ में मैडम और कर्नल भारत आये और अपने गुरु ऋषि दयानन्दके चरणोंमें पहुंचे। पहलेपहल सहारनपुर में भेंट हुई। स्वामीजीके शिष्य इन आर्यसमाजी थ्योसोफिस्टोंके व्याख्यान कराने लगे। लगभग वर्षभर तक यही प्रेम-सम्बन्ध रहा। परन्तु अब उनका रुख पलटा। प्रतीत होता है कि मैडम और कर्नल अपने वास्तविक रंगमें आनेलगे। सत्य और असत्यका दिखावटी मेल भला कब तक रहता। झगड़े के मुख्य कारण ये थे—(१) थ्योसोफीके नेताओंने सोच यह रखा था कि स्वामी दयानन्दको साधन बनाकर वे भारतमें अपना जाल फैलावेंगे। यहां आकर उन्हें अनुभव होगया कि सत्यका पुजारी ऐसे चक्रमें फंसने वाला नहीं है। (२) एक वर्षके अनुभवने उन्हें यह भी बतला दिया कि उनकी दुकानदारीके लिए किसी ऐसे साधनकी आवश्यकता भी नहीं है, भारतवासी पर्याप्त अज्ञानी और अन्ध श्रद्धालु हैं। (३) धीरे धीरे सोसाइटीके नेताओंने अपने दम्भका जाल फैलाना आरम्भ किया। वे चमत्कारों को अपने धर्मका आवश्यक अंग बताने लगे और इन्हें योगकी सिद्धियां कह लोगोंको फुसलाने लगे। (४) इसके अतिरिक्त थ्योसोफिस्ट अब खुले आम अपने आपको बौद्ध कहने लगे। वे सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ताको अस्वीकार करते थे। उनकी सोसाइटीमें कोई भी धर्मावलम्बी वह चाहे मुसलमान हो

ईसाई हो बौद्ध हो या हिन्दू हो, परस्पर विरुद्ध धर्म मानते हुए भी सोसाइटी में प्रविष्ट होसकता था।

झगड़ेका स्वरूप

ऊपर हम दिखा चुकेहैं कि थ्योसोफीके नेताओंने स्वयं अपनी सोसायटी को आर्यसमाजकी शाखा बनायाथा। अब सोसाइटीके नेताओंने अपना रंग पलटा। वे आर्यसमाजके सभासदोंको अपना सभासद बनाने लगे। सोसाइटीके नेताओंका कपट अब पराकाष्ठा तक पहुंच गया था। सत्यके पुजारी ऋषिको यह दम्भ कैसे रुचता ? सत्य और असत्यमें सुलहनामा तो उसने कभी सीखा ही नहीं था। कुछ दिन तक पत्र-व्यवहार जारी रहा। अन्तमें आसौज वदी चतुर्दशी संवत् १६३७ (सन् १८८० ई०) को मेरठ आर्यसमाजके उत्सवपर एक व्याख्यानमें स्वामीजीने आर्य-समाजियोंको चेतावनी दी कि वे थ्योसोफिकल सोसाइटीके सदस्य न बनें। स्वामीजीने यहां इस घोषणाके कारणोंको भी स्पष्ट किया। इस पर सोसाइटीके नेताओंमें खलबली मचगई। उन्होंने स्वामीजीके नाम एक विस्तृत पत्र लिखा जिसमें यह भी दर्शाया गयाथा कि सोसाइटी को राजपुरुषोंका आश्रय मिल रहा है, इसलिए आर्यसमाजका साथ छूटनेमें सोसाइटीकी तो कोई हानि नहीं आर्यसमाजकी ही हानि है। दबे शब्दोंमें राजपुरुषोंकी सहायता का आर्यसमाजको प्रलोभन भी दिया गया। परन्तु स्वामी-जीने इस पत्रका विस्तृत उत्तर दिया और सन् १८८२ में बम्बई आर्यसमाजके उत्सव पर सोसाइटीसे आर्यसमाजके सम्बन्ध-विच्छेदकी अन्तिम घोषणा करदी गई।

५

राजपूतानेमें कार्य

ऋषिदयानन्दने महारानी विक्टोरियाके महारानी उद्घोषित होनेके दरबारके समय देशी राजा और रईसों तक अपना सुधार का कार्यक्रम पहुंचाना चाहा था, परन्तु उस समय वे असफल रहे थे। उसके पश्चात् वे अपने विस्तृत कार्यक्षेत्र, पंजाब और संयुक्त प्रान्तमें व्यस्त रहे, परन्तु इस सारे समयमें वे अपनी विचार-धाराको भूल नहीं सके थे। सचतो यह है कि अनुभवसे उनकी यह दृढ़-धारणा हो चली थी कि साधारण जनताका सुधार राजशक्तिकी सहायतासे ही अधिक सुकर है। वे यह जानते थे कि धर्म और समाजके मामलोंमें बलात्कार नहीं चलता, परन्तु 'यथा राजा तथा प्रजा' की लोकोक्तिभीतो अक्षरशः सत्य है। फिर "महाजनो येन गतः स पन्थाः" । साधरण लोगोंकी दृष्टिमें राजा ही महान् पुरुष है। अस्तु।

राजपूतानेसे उन्हें निमन्त्रणभी बराबर आते रहे थे। अन्तमें ५ मई सन् १८८१ के दिन ऋषिदयानन्द अजमेर पधारे।

फर्वरी १८८३ तक स्वामीजीका मुख्यस्थान उदयपुर रहा। उदयपुरके महाराणा सज्जनसिंहजीपर आपका विशेष प्रभाव पड़ा। ऋषि-मुखसे मनुस्मृतिका राजप्रकरण सुनकर महाराजाकी आंखें खुल गईं। वे सन्ध्योपासनादि सब काम नियम पूर्वक करने लगे। शराब और वेश्यागमन छोड़ दिया। संस्कृतका अभ्यास बढ़ाया।

महाराणाने वैशेषिक और योगदर्शन पढ़ लिये, प्राणायामकी विधि भी सीख ली। मार्चमें स्वामीजी शाहपुरा पधारे। शाहपुराधीश राजा नाहरसिंहजी भी स्वामीजीके भक्तोंमें से थे। महाराजाने ऋषिके सत्संगसे पूरा लाभ उठाया। मनुस्मृति, वैशेषिक और योगदर्शन पढ़े। महलोंमें एक यज्ञशाला बनवाई और प्रतिदिन हवन करनेका संकल्प किया। यहां से १७ मई सन् १८८३ ई० को स्वामीजीने जोधपुरके लिए प्रस्थान किया।

ऋषि दयानन्द और राजाश्रय

इस अन्तरमें हम एक बात स्पष्ट रूपसे देखते हैं। स्वामीजी जब तक रहे इन राजाओंके धर्मगुरुके रूपमें ही रहे; धर्म-प्रचार केलिये राज्यका आश्रय लेते हुए धर्मको राज्यका दास बना देनेकी बात एक क्षणभरकेलिये भी उनके मनमें नहीं आई। महाराणा सज्जनसिंहने एकबार एकान्तमें उनसे कहा—"महाराज! यदि आप देशकालोचित समझकर मूर्तिपूजाका खंडन करना छोड़दें तो अति उत्तम हो, क्योंकि आप जानते हैं कि यह रियासत एक लिंगेश्वर महादेवके आधीन चली आती है। यदि आप स्वीकार करें तो इस मन्दिरके महन्त बन सकते हैं। वैसे तो यह राज्य भी उसी मंदिरके समर्पित है, परन्तु मंदिरके नाम जो राज्यका भाग लगा हुआ है, उसकी भी लाखोंकी आय है। उसपर आपका अधिकार हो जायगा।"

इतिहास लेखक लिखते हैं कि ऋषिको क्रोध नहीं आता था, परन्तु अपने शिष्यकी इस बातसे वे भी झुंझला उठे। ऋषिने उत्तर दिया "महाराणाजी! आप मुझे लालच देकर उस सर्व-

शक्तिमान् जगदीश्वर की अवज्ञा करने पर उद्यत कराना चाहते हैं। ये आपके मंदिर और ये आपकी छोटीसी रियासत जिसमेंमें एक दौड़में बाहर जासकता हूं मुझे कभीभी उस परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध नहीं कर सकते, जिसके राज्यसे कोई कभी किसी प्रकार भी बाहर नहीं जासकता। आप निश्चय रखें, मैं परमात्मा और वेदों की आज्ञा के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

स्वामीजीकी तेजस्विताका मुख्य कारण यही सत्य परायणता था। राजे-महाराजेभी उस तेजसे भय खाते थे। यही कारण है कि थोड़ेही समयमें ऋषिका प्रभाव उक्त दोनों राजाओं पर पड़ा। यह देशके दुर्भाग्यकी बात है कि ऋषि शीघ्रही एक षड्यन्त्रके शिकार हो चल बसे और उनकी राज-सुधारणाकी योजनाकी कली असमय ही मुरझा गई।

६

परोपकारिणी सभाकी स्थापना

मेरठसे चलते हुए ऋषिने एक व्याख्यानमें कहा थाकि—"महाशयो! मैं कोई सदा नहीं बना रहूंगा, विधाताके न्याय नियम में मेरा शरीरभी भंगुर है।........सोचो यदि अपने पांव खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आंख मीचने के पीछे क्या करोगे? स्वावलम्बके सिद्धान्तका अवलम्बन करो। अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य बन जाओ।" इसी स्वावलम्बके लिए ऋषिने

आर्यपुरुषोंको आर्यसमाजके रूपमें संगठित किया। और भारत-भरके आर्यसमाजों के सहारेके लिए किसी केन्द्रीय सभाकी वे आवश्यकता अनुभव करते रहे। अन्तमें 'परोपकारिणी सभा' बनानेका संकल्प उदयपुरमें पूर्ण हुआ। ऋषिकी दृष्टि अपने सुयोग्य शिष्य महाराणा सज्जनसिंहजी पर पड़ी—महाराणा स्वभावसे दृढ़निश्चयी थे। ऋषिने वसीयतनामा लिखकर २३ आर्यपुरुषोंकी 'परोपकारिणी' सभाको अपने वस्त्र, पुस्तक, धन यन्त्रालय आदि सर्वस्वका अधिकार दे दिया और उसको परोपकारमें लगानेके लिए अध्यक्ष बनाकर स्वीकार पत्र लिख दिया। इस सभाके सभापतिका पद महाराणा सज्जनसिंहजीको दिया गया।

इस सभाके तीन उद्देश्य थे (१) प्रथम यह कि स्वामीजीकी सम्पत्तिको वेदवेदांग आदिके पढ़ने, पढ़ाने और वैदिक ग्रन्थोंके छपवाने में व्यय करना (२) देश देशान्तरमें प्रचारक भेजना (३) और तीसरा यह है कि भारतके दीन और अनाथ जनोंको सहायता देना। सभाके सभासद् रहनेके साधारण नियमोंमें एक यहभी है कि दुराचारीको सभासे पृथक् कर दिया जायगा।

प्रतीत होता है कि स्वामीजीने समस्त आर्यसमाजोंकी किसी शिरोमणी सभाके अभावमें इस सभाका निर्माण किया था। परन्तु तात्कालीन राजा और रईस अभी इस सतहपर नहीं पहुंचे थे कि वे साधारणशिक्षित वर्गके साथ आर्यसमाजके साधारण सभासद् बनते और इन प्रारम्भिक आर्यसमाजों द्वारा चुने जाकर केन्द्रीय संगठनमें पहुंचते। परोपकारिणी सभाका

संगठन आर्यसमाजके शेष संगठनसे कुछ भिन्न इसीलिए प्रतीत होता है। स्वामीजीने चाहा कि इस प्रकार राजा लोग शिक्षित साधारण प्रजाजनके साथ मिलकर भारत हितके सार्वजनिक कार्योंमें दिलचस्पी ले सकेंगे। परन्तु शीघ्रही ऋषिका स्वर्गवास, और उनके पश्चात् महाराणा सज्जनसिंहजीका भी स्वर्गवास हो गया। साधारण आर्यजनता अपने प्रतिनिधि संगठनमें व्यस्त हो गई और परोपकारिणी सभा एक तरफ पड़ गई।

७

अमूल्य योजनायें और निर्देश

उपरोक्त मुख्य-मुख्य घटनाओं के अतिरिक्त ऋषि अपने पत्र व्यवहार में आर्यसमाजों के कर्त्तव्य की ओर निर्देश दिया करते थे। पत्र व्यवहार के आधार पर यह कहा जासकता है कि उन्होंने निम्न बातों पर बल दिया।

(१) आर्यसमाजको संस्कृत शिक्षा पर विशेष बलदेना चाहिये, अंग्रेजी और फारसी पर कम। अंग्रेजी भाषाका प्रचार हम सम्राट् के मुकाबिलेमें कुछभी नहीं कर सकते। एक पत्रमें स्वामीजी ने संस्कृत को तीन, अंग्रेजी को दो और उर्दू-फारसी को १ घन्टा प्रतिदिन देना लिखा है। (सेठ निर्भयरामजी के नाम २३ मई सन् १८८१)।

(२) अनाथ बालकों को विधर्मियों से बचाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि आर्यसमाज की ओर से अनाथालय हों। आपने फीरोजपुर अनाथालयके लिए विज्ञापन किया था।

(३) उन्होंने विधवाओं को सम्पत्ति में उत्तराधिकार और उनकी सतति को कानूनकी दृष्टिसे वैध करार देने के लिए सरकारी अधकारियोंके पास निवेदन पत्र भेजा।

(४) संवत् १६३६ (सन् १८८२) में उन्होंने आर्यसमाजोंको प्रेरणाकी कि वे राजकीय विभागोंमें भाषा सम्बन्धी निर्णयके लिए नियुक्त किये गये कमीशनके सम्मुख आर्यभाषा (हिन्दी) को स्थान दिलवाने के लिए आन्दोलन करें। इस पत्रमें आपने लिखाः— "जो यह कार्य सिद्ध हुआ तो आशा है कि मुख्य सुधारकी नींव पड़ जायगी।" (पत्र बा० दुर्गाप्रसाद, श्रावण शुक्ल ३ संवत् १६३६)

(५) चैत्र संवत् १६३६ (मार्च सन् १८८२) में गाय, बैल और भैंस की हत्या बन्द करनेके लिए आपने एक आवेदन पत्र सम्राज्ञीकी सेवामें भिजवानेके लिए तय्यार करवाया और समाजों तथा प्रसिद्ध प्रसिद्ध सामाजिक पुरुषोंको प्रेरणाकी कि वे इसपर हस्ताक्षर करवायें। इसकी विधि यह रखी गई थी कि एक व्यक्ति सौ, हज़ार या दसहजार व्यक्तियोंकी ओरसे इस आवेदन पत्र पर हस्ताक्षर करे और जिनकी ओरसे वह ऐसा करे उनके हस्ताक्षरों वाला पत्र अपने पास सुरक्षित रखे। आपकी इच्छा दो करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर करवानेकी थी। इस आन्दोलनमें ईसाई, मुसलमान सब को सम्मिलित होनेकी खुली छुट्टी थी।

(६) प्रेसकी आवश्यकता अनुभवकर, आपने प्रेस खोला। पहले बम्बईसे वेदभाष्य प्रकाशित होता था अब बनारसमें (सन् १८७८ में) प्रेस खुला और यहांसे वह प्रयाग गया। स्वामीजीकी मृत्युके पश्चात् कुछ दिन प्रयागमें रहकर यह प्रेस

श्री परोपकारिणी सभाके मुख्य स्थान अजमेरमें ही आ गया। इस प्रेसने जहाँ स्वामीजीके ग्रन्थोंकी रक्षा व शुद्धताकी ओर ध्यान दिया है वहां व्यापारिक दृष्टिसे यह स्वावलम्बी है।

(७) आर्यसमाज फर्रुखाबादका भारत सुदशाप्रवर्तक आपके ही आशीर्वादसे आरम्भ हुआ।

(८) शिक्षितोंकी बेकारीकी समस्याको क्रान्तदर्शी दयानन्दने अपने समयमें ही अनुभवकर लिया था। जर्मनीसे उन्हें पत्र मिले कि भारतीय विद्यार्थी वहां जाकर कलाकौशल सीख सकते हैं। सन् १८८० में इस सम्बन्धमें कई पत्र बा० मूलराज एम०ए० को लिखे। एक में प्रस्ताव था कि 'इसकेलिये एक निधि हो, प्रत्येक पुरुष अपनी आयका १००वां भाग इस निधिमें दे। इस धनसे था तो विद्यार्थी जर्मनी जायें या वहांसे अध्यापक बुलाये जांय—इस फंडसे सहायता लेने वाले विद्यार्थीको यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि वह १२ वर्ष तक उक्त निधिकी सेवा करेगा। स्वामीजीने मूलराज-जीसे प्रेरणा की कि वे अपने भाई ला० श्रीरामको इस अवसरसे लाभ उठाने दें।

(९) आर्यसमाजके संगठनकी लोकप्रियता और प्रसिद्धिके साथ-साथ इसमें अनधिकारी व्यक्ति भी प्रवेश पा जाते थे। स्वामीजीकी ऐसे व्यक्तियोंके विषयमें साफ ही यह सम्मति थी कि 'देशकी उन्नति और उन्नत्यर्थ समाजके जो उद्देश्य हैं उनसे उनका आचरण विरुद्ध है, इसलिये ऐसे व्यक्तियोंको समाजमें स्थान नहीं देना चाहिये।' (वैशाख शु० ६ सं० १९४०—ला० श्यामसुन्दर—मुरादाबाद के नाम पत्र)।

(१०) अवांछित पुरुषोंका समाजमें प्रवेश न होने पावे इसकेलिये भी वे सतर्क रहते थे। जब कभी किसी व्यक्तिको समाजोंमें कार्यार्थ नियुक्त करना होता तो खूब जांच पड़तालकर उसे प्रमाण-पत्र देते। स्वामी सहजानन्द आदि कई व्यक्तियोंको ऐसे प्रमाण पत्र देनेकापत्रोंमें उल्लेख है। सन् १८८३ में 'भारतमित्र' के एक सम्पादक श्रीकृष्ण खत्रीने आर्यपंचांग बनाना चाहा और स्वामीजीसे इस कार्यमें यह सहायता चाही कि आर्यसमाजोंसे उन्हें विवरण मिलजांय। स्वामीजीने पहले इनके विषयमें 'भारतमित्र' के सम्पादकसे पूछा तब समाजोंको लिखा।

(११) स्वामीजी आर्यसमाजके धनको 'संसारका धन' समझते थे। यह बात उस समयकी है जबकि 'पब्लिक फंड' का अभी नाम भी कहीं ही सुनाई देता था। स्वामीजीने इसी आधार पर धोखा देने वालोंको कभी क्षमा नहीं किया। मुन्शी बख्तावर-सिंह, मुन्शी इन्द्रमणि—इसी प्रकारके मिथ्याचारके कारण समाजसे पृथक् किये गये।

(१२) संवत् १९३३ (सन १८७६ ई० में) आपने अपने शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को जो पत्र लिखा उससे ज्ञात होता है कि—

(क) स्वामीजी आर्य युवकोंके दैनिक जीवनको मर्यादित रखनेकी ओर बराबर ध्यान देते थे। कर्नल प्रतापसिंहजीको लिखे पत्रोंमें भी ऐसी ही प्रेरणा मिलती है।

(ख) विदेशमें भी वैदिक-धर्म-प्रचार और संस्कृत-शिक्षाकी ओर ध्यान था।

(ग) प्रो० मोनियर विलियम मैक्समूलर आदि यूरोपियन विद्वानोंसे वेद विषयक संवादके वे इच्छुक थे।

(१३) जनगणना—सन् १८८१ की जनगणनाके सम्बन्धमें स्वामीजीसे सम्मति मांगनेपर उन्होंने मास्टर दयारामजीको अपने ३१ दिसम्बर सन् १८८० ई० के पत्रमें लिखा कि खानापूरी निम्न प्रकार करो—

मजहब, फिरके मजहबी	...	वैदिक
असल कौम	...	आर्य
जात या फिर्क़ा	...	ब्राह्मण वा क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र
गोत्र या शाख़	...	जो अपना गोत्र हो।

थोड़े ही समयमें स्वामीजी और उनके स्थापित आर्यसमाजकी ख्यातिके मूल कारण सत्यप्रेम और इसका परिणाम—निर्भयता थे। यहां हम स्थानाभावसे इस विषयक घटनाओंका उल्लेख न करते हुए आगे बढ़ते हैं।

८

बलि वेदि पर

ऋषि-जीवनकी अन्तिम घटना उनका बलिदान है। आत्मोत्सर्गतो वे उसी दिन कर चुके थे जबकि उन्होंने धन-जनसे भरा-पूरा अपना घर छोड़ा। सन्यासी हो ही चुके थे। गुरु विरजानन्द की शिक्षाने उन्हें अपनी मुक्तिकी इच्छासेभी विरक्त कर दिया था। सच तो यह है कि अपने चारों ओर गहरे अज्ञानवश हुएभाइयोंके

बीच ऋषिदयानन्दसा सच्चा सन्यासी शान्तिसे केवल अपनी निजी मुक्तिका साधन कर रही कैसे सकता था ! उसने अपना सर्वस्व विश्व-हित पर न्योछावर कर दिया।

रोगी अपने रुग्ण शरीरके सड़े-गले भागसे दिलसे तो प्यार नहीं करता, परन्तु उसे काटनेका प्रयत्न करने वाले डाक्टरसे नोंक-झोंकभी करता है। बीमार आर्य-जातिकी वही अवस्था थी। ऋषिका प्राण हरनेकी उनके जीवनकालमें कई बार चेष्टाकी गई। अन्तमें जोधपुरमें यह कुमन्त्रणा अपना रंग लाई। ऋषिके लिए तो यह कोई नई बात नहीं थी, परन्तु आर्य-जाति, नहीं-नहीं संसारभर, को इससे जो अपार हानि हुई उसका अनुमान उस समयके समाचार-पत्रोंकी पुकारसे भली भांति लग सकता है।

मृत्यु मुखमें प्रवेश

१७ मई सन् १८८३को शाहपुरसे चलते समय शाहपुराधीशने विनती की—"महाराज ! आप जोधपुर जा तो रहे हैं, परन्तु वहां वेश्या आदिका खण्डन न करना।"

परन्तु ऋषि अटल और निर्भय थे, उन्होंने उत्तर दिया—"राजन !मैं बड़े विषवृक्षको नहेरनेसे नहीं काटता, उसके लिए तो बड़े शस्त्रकी आवश्यकता होगी।"

जोधपुरमें प्रचार

जोधपुरमें कर्नल सर प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंहजी आदि रईस ऋषिके शिष्य तो गिने चुने ही थे, उन्हींके निमंत्रण पर वे जोधपुर पधारे। उनकी ओरसे अतिथ्यका प्रबन्ध हुआ और सत्संग होने लगा। कुछ दिन पीछे जोधपुरधीश महाराजा

यशवन्तसिंहजी दर्शनोंको आये और तबसे प्रतिदिन दो घण्टे राजभवनमें ऋषि राजाको धर्मोपदेश करने लगे।

अजमेरसे चलते समय अजमेरके आर्यपुरुषोंने कहा था—'महाराज ! मारवाड़के लोग गंवार और उज्जड़ हैं, इसलिए आप वहां न जाइए।' ऋषिने उत्तर दिया—"यदि लोग मेरी अंगुलियों की बत्तियां भी बनाकर जलावें, तो भी मुझे भय नहीं, मैं वहां पर जाऊंगा और अवश्य वैदिकधर्मका प्रचार करूंगा" "तथापि वहां आप मधुरतासे काम लेना, वहांके लोग कठोर-हृदय और कपटी, होते हैं" ऋषिने कहा-"मैं पापवृक्षोंको जड़से काटनेके लिए तीक्ष्ण कुठारोंसे काम लूंगा, कैंचीसे उनकी कलम नहीं करूंगा।" विरोधियोंकी उग्रताकी कहानी सुन-सुनकर ही मानों ऋषिका मन्यु बढ़ गया था। अपने व्याख्यानोंमें उन्होंने मूर्ति-पूजा, वेश्या-गमन, चक्राँकित सम्प्रदाय और इस्लामका बड़े ज़ोरसे खण्डन किया। पुजारी नाराज हो गए, राजा और रईसोंकी वेश्यायें रूठने लगीं, चक्रांकित प्रजा में खलबली मच गई और राज्यके मुसाहिब आलाभया फैजुल्ला खांको इस्लामके खण्डनसे बड़ा धक्का लगा।

अन्तिम घटना

अन्तमें एक घटनाने चिन्गारीका काम दिया। महाराज जोधपुरका नन्हींजान वेश्यासे सम्बन्ध था। एक रोज जब स्वामी जी अपने नियत समयपर दरबारमें पहुंचे तो नन्हीजान आई हुई थी। स्वामीजीके आनेका समय ज़ान महाराज उसे डोलीमें विदा कर रहे थे। डोली उठनेसे पूर्व ही स्वामीजीको आता देख महाराजा घबरा गए और शीघ्रतामें स्वयं कन्धा लगाकर डोली

उठवा दी। स्वामीजी इस दृश्यसे क्षुब्ध होगए। अपने व्याख्यानमें उस दिन उन्होंने कहा, 'राजा सिंह हैं और वेश्यायें कुतिया हैं। राजाओंका सम्बन्ध सिंहनियोंसे ही उचित है, कुतियोंसे नहीं।' महाराजा लज्जित हुए और उन्होंने अपने सुधारका निश्चय किया। नन्हीजान यह सब सुनकर तिलमिला उठी और उसने कुछ करने का निश्चय किया।

२६ सितम्बरको स्वामीजीने रोज़के नियमके अनुसार अपने रसोइये जगन्नाथसे गर्म दूध मंगवाकर पिया। दूध पीकर स्वामी-जी सो गये। थोड़ी देर पीछे पेटमें दर्द उठी और जी मचलने लगा। वमन होने लगा। प्रातःकाल तक पेचिश और वमनका जोर बढ़ गया। स्वामीजीके भक्त डा० सूर्यमलजीका इलाज प्रारम्भ हुआ परन्तु राज्यकी ओरसे डा० अलीमर्दानखां भेजे गये। उनके इलाजसे दशा सुधारनेकी जगह अधिक बिगड़ गई। फिर भी डाक्टरका यह कहते जाना कि दशा सुधर रही है डाक्टरके प्रति सन्देहका कारण है। डाक्टरोंने यही निश्चय किया कि स्वामीजीको जहर दिया गया है। मालूम होता है कि कपटियों के चुङ्गलमें आकर स्वामीजीके रसोइयेने दूधमें विष मिलाकर पिला दिया। कहते हैं कि जब स्वामीजीको इस बातका पता लगा तो उन्होंने जगन्नाथको किराएके लिए रुपया दिया और उसे नैपाल भाग जानेको कहा। यह विष अन्तमें घातक सिद्ध हुआ। अजमेरमें समाचार पहुंचते ही आर्यपुरुष जोधपुर पहुंचे। इलाज में शिथिलता अनुभव कर वे ऋषिको आबू पर्वत ले गए। परन्तु वहांभी आराम नहीं दिखाई दिया। तब वे अजमेर लौटे। यहां

डा० लक्ष्मणदासजीका इलाज प्रारम्भ हुआ । परन्तु मृत्युका इलाज किसके पास था ! दीपावलीकी रात उन्हें लेकर ही रही ।

स्वामीजीकी मृत्यु शय्याके चारों ओर दूर-दूरके आर्यपुरुष एकत्र थे । ज़हरके कारण उनका शरीर छलनी होरहा था, इस अपार कष्टमें भी उनके मुँहसे कभी 'आह' तक भी नहीं निकलती थी। इस आश्चर्यजनक धैर्यके अतिरिक्त अन्त समय प्रसन्नतापूर्वक ईश्वरोपासना, स्तुति, गायत्रीपाठ और प्रफुल्ल-चित्तसे "हे दयामय ! हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा ! तैंने अच्छी लीला की।" इन शब्दोंमें उनकी ईश्वर-प्रार्थना सुनकर तो नास्तिक गुरुदत्तके ज्ञानचक्षु भी खुलगये । मरते-मरते भी वे वैदिकधर्मके आधारभूत ईश्वर-विश्वासकी क्रियात्मक शिक्षा देते गए।

उपसहार

इस प्रकार हमने देखा कि इन साढ़ेआठ वर्षोंमें स्वामीजीने अपने लगाये आर्यसमाज-पौधेकी किस प्रकार रक्षा और वृद्धि की। इनदिनों आर्यसमाजी बाहरके आक्रमणों और आर्यसमाजकी सामान्य नीतिकी समस्याओंसे सर्वथामुक्त रहे, इसका सारा भार स्वामीजीपर था । कोई स्थानीय समस्या उपस्थित होती तो स्वामीजीसे सम्मति लेकर उसका पालनकर लिया जाता । आर्योंका ध्यान निम्न बातोंमें ही केन्द्रित रहा—(१) प्रति सप्ताह समाजके सत्सङ्गमें जाना । (२) सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थोंका मनन। (३) आर्य होनेके कारण आई विपत्तियोंका सहन । (४) हिन्दुओंमें समताका प्रचार (५) वार्षिक उत्सव । (६) कभी-कभी बृहद्यज्ञ । (७) पारस्परिक सहानुभूति । (८) सेवा सङ्घ द्वारा जनताकी सेवा । (९)कभी-कभी

शास्त्रार्थ चर्चा (परन्तु शास्त्रार्थ आदिके लिए प्रायः स्वामीजी ही बुलाये जाते थे)।

इस समयका मुख्यकार्य आर्योंका उत्साह था। यहां फार्म भरे जारहे हैं तो वहां उत्सवकी धूम है। अन्तरङ्ग सभायें होरही हैं, गांव और कस्बोंमें हवन होरहे हैं। पुरानी बिरादरी टूटकर, नई आर्यबिरादरी बन रही है। एक आर्यपर विपत्ति आती है तो सैंकड़ों उसकी सहायताको दौड़ पड़ते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अभी तक आर्यसमाजी स्वामीजीकी छत्रछायामें पनप रहे थे। पर अकस्मात् ही यह छाया उठ गई। अब आर्यसमाज को जहां अपनी उन्नतिकी चिन्ता थी, वहां अपनी रक्षाकी चिन्ता हो गई। आगेके पृष्ठोंमें हम देखेंगे कि आर्यसमाजने अपने जीवनका अगला पग कैसे बढ़ाया।

प्रश्न

(१) आर्यसमाजकी स्थापनाके पश्चात् ऋषि दयानन्दके प्रचारका ढंग क्या रहा ?

(२) थ्योसोफिकल सोसाइटीका परिचय देते हुए बताइये कि आर्यसमाजसे इसका क्या सम्बन्ध रहा ?

(३) ऋषिके पत्रोंमें वर्णित विषयोंसे उनके सुधारकार्य पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

शिष्यों की कर्तव्य-भावना

(संवत् १९४० वि०के मध्य से सं० १९४४ तक)

—:*:—

१

ऋषि-निर्वाण के पश्चात्

वज्रपात

ब्रह्मचारी दयानन्द केवल ५९ वर्षकी आयुमें परलोक सिधार जायगा इसकी किसीको सम्भावना नहीं थी। ऋषिकी शक्ति, उनका ओज और असीम बल देखकर सभी उन्हें विजित मृत्यु समझते थे। उनकी मृत्युके समाचारपर किसीको विश्वास नहीं आता था। पर कब तक विश्वास न होता! कठोर-हृदय भी आख़िर रो उठे। आर्यसमाजके विरोधियोंसे भी न रहा गया—संसारके इस 'रूहानी बादशाह्' के वियोगमें वे भी तड़पे। आर्य-जगत्को तो यह धक्का एकदम असह्य प्रतीत हुआ। अबतक वे निश्चिन्त थे, उनकी प्रत्येक कठिनाईका हल 'स्वामी' जी थे—अब कठिनाई कौन हल करेगा ?

उत्साह की लहर

परन्तु ऋषिके शिष्य सम्भल गये। ऋषिने जो शिक्षा दी थी उसे स्मरण करते ही उनका उद्वेग घट गया, उत्तरदायित्वकी अनुभूतिने आर्यसमाजको नाबालिग़से बालिग़ बना दिया। वेद-प्रचार ऋषिका उद्देश्य था—अपने इस उद्देश्यकी पूर्तिका भार

जीते-जी ऋषिने आर्यसमाजके कन्धेपर रखा. परन्तु अपने जीवन-कालमें ऋषि इतना सहयोग देते रहे कि वह बोझल प्रतीत नहीं हुआ। आज उनका सहारा हट जानेपर वह एक बार तो असह्य प्रतीत हुआ, परन्तु यह मूर्छा क्षणिक ही रही। जहां अब तक ऋषि अकेले ही इस भारको सम्भाल रहे थे—अब आर्यसमाजके सभासदोंने इसे सम्भालना अपना कर्तव्य अनुभव किया।

उत्तराधिकारी

इस समय एक बात ध्यान देने योग्य है। नाना सम्प्रदायोंकी भांति आर्यसमाजने अपने आचार्यकी मृत्युके पश्चात् उनके स्थानपर किसी और व्यक्तिकी ढूंढमें अपना समय नहीं खोया। ऋषि दयानन्दकी शिक्षाका यह स्वाभाविक फल था। जब जीते-जी ऋषिने स्वयं आर्यसमाजके आचार्य, परम सहायक या प्रधान तक बननेसे इन्कार किया तो उनका कौन अनुयायी अपने गुरुसे बढ़कर आगे आ सकता था। आर्यसमाजको ऋषिने एक प्रजासत्तात्मक संगठन बनाया था, उनके अनुयायियोंने इसको वैसे ही रखा—किसी व्यक्ति विशेषको सर्वेसर्वा माननेकी कुप्रथाके सूत्रपातकी ओर एक अंगुली भी न उठी।

२

ऋषि का स्मारक

आर्यसमाजकी चेतनताका अनुभव इसीसे हो सकता है कि ३० अक्तबरको ऋषिकी मृत्युके पश्चात् नवें ही दिन ८ नवम्बरको

लाहौरमें आर्यपुरुषोंकी एक सभा होती है और उसमें ऋषिकी स्मृतिको चिरस्थाई बनानेकेलिये एक एंग्लो-वैदिक स्कूल और कालेज बनानेका प्रस्ताव पास होता है। प्रस्तावक पं० गुरुदत्त एम.ए. थे। सर्व सम्मतिसे केवल प्रस्ताव ही स्वीकृत नहीं होता अपितु उसी समय ८०००) रु० दान भी प्राप्त होता है, जो आजकलके ८००००) रु० से भी अधिक समझना चाहिये। ऋषिकी स्मृतिमें किसी प्रकारकी समाधि या स्तूप बनानेका प्रस्ताव न होना भी यह जतलाता है कि उनके शिष्योंने ऋषिकी बातको खूब समझा था। एक बार उदयपुरके राजकवि श्यामलदासजीसे बातचीतमें स्वामीजीने यह बात स्पष्ट कही थी 'मेरे मरनेके पश्चात् मेरी अस्थियोंको किसी खेतमें डाल देना, कोई समाधि या कोई चिन्ह कदापि न बनाना'।

ऋषिदयानन्द ब्रह्मचर्य और सत्य शिक्षाके अभावको ही भारतवर्षकी गिरावटका कारण समझते थे। काशी और फर्रुखाबादमें उन्होंने स्वयं पाठशालायें स्थापितकी थीं, परन्तु आर्यजनतामें पर्याप्त चेतनता न आ सकी थी, और वे प्रबन्धके अभावमें न चल सकीं। इसके पश्चात् भी यह विचार चलता रहा। सन् १८८२ और १८८३ ई० के पूर्व भागमें पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश (आजकल संयुक्त प्रांत) के आर्य समाचार-पत्रोंमें वैदिक शिक्षणालयकी आवश्यकतापर लेख निकले। लाहौरके 'आर्य' ने मई सन् १८८२में एक ऐंग्लो-वैदिक स्कूलकी चर्चाकी है। इस चर्चासे यह सिद्ध होता है कि आर्य पुरुष एक ऐसे विद्यालय की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे जिसमें वैदिक ग्रन्थोंकी

शिक्षाके साथ साथ अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी अर्वाचीन विद्याओं के पढ़ानेका भी प्रबन्ध हो।

ऋषिकी मृत्युके पश्चात् आर्यपुरुषोंने उत्तर-दायित्वकी जो प्रबल अनुभूति दिखाई, नेताओंने उससे लाभ उठाया और जिस वैदिक शिक्षणालयका इतने वर्षोंसे प्रस्ताव हो रहा था उसे ही ऋषिका स्मारकभी बनानेका निश्चय कर लिया।

ऊपर हम लिख चुके हैंकि लाहौरमें आर्यपुरुषोंने ८ नवम्बरको भरी सभामें ऐंग्लोवैदिक स्कूल खोलनेका प्रस्ताव ही नहीं किया अपितु उसके लिए ८०००) जमा भी कर लिए। ऋषिका यह स्मारक कहां बने यह भी प्रश्न था, किसी केन्द्रीय स्थान या अजमेर में न बनकर यह लाहौरमें बना। मेरठमें आर्यपुरुषोंकी एक सभा में इसपर खूब विवाद हुआ। परन्तु कुछ निश्चय नहीं हो सका। पंजाबके आर्यसमाजी स्वभावतः कुछ अधिक कर्मण्य थे। उन्होंने विचारमें अधिक समय न खो लाहौरमें ही दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल खोलनेका निश्चय कर लिया। उत्साही आर्यनवयुवक लाला हंसराजने कुछभी वेतन न लेकर स्कूलकी सेवाकी इच्छा प्रकटकी और इस प्रकार अपना जोवन अर्पण कर आर्योंके उत्साहको चौगुना कर दिया। धन एकत्र करनेके लिए एक उपसमिति बना दी गई। इसके प्रधान ला० लालचन्द एम० ए०, मंत्री लाला मदनसिंह बी० ए० तथा ला० अमोलकराम, ला० जीवनदास, ला० सुखदयाल और ला० बटालियाराम सदस्य थे। पं० गुरुदत्त एम० ए० उत्सवों पर कालेजके लिए अपील करते थे। हिसारके ला० लाजपतराय वकील एक उदीयमान वक्ता थे, उन्होंने कालेजके

लिए अपनी वाणीसे काम किया। साधु रमतारामने आटाफण्ड खोलकर कालेजके लिए धन एकत्र किया। आन्दोलनके लिए अंग्रेजी भाषामें 'आर्यपत्रिका' निकाली गई। सब प्रान्तोंने इसके लिए धनकी सहायता दी और अन्तमें १म जून सन् १८८६ को आर्यसमाजमन्दिर लाहौरमें एक सार्वजनिक सभाकर स्कूल खुलने की घोषणा करदी गई। जून मासमें भर्ती होने वाले छात्रोंसे कोई फीस न लेनेका निश्चय किया गया। महीनेके अन्त तक ६०० विद्यार्थी प्रविष्ट होगए। पहले दिनसे ही स्कूलने जो लोक प्रियता प्राप्तकी, वह आजतक बनी हुई है।

कालेज सोसाइटीका उद्देश्य

२७ अगस्त सन् १८८६ (संवत् १९४३ वि०) को दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज सोसाइटीकी रजिस्ट्री करा दी गई। इस समय सोसाइटीके दो उद्देश्य बतलाए गए—प्रथम पंजाबमें ऐंग्लो-वैदिक स्कूल व कालेज तथा आश्रमकी स्थापना और द्वितीय, शिल्पशिक्षाका प्रबन्ध करना। शिक्षाकी यह विशेषता बतलाई गई कि (१) हिन्दू साहित्य (२) प्राचीन संस्कृत साहित्य और (३) अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य विज्ञानके शिक्षणपर बल दिया जायगा। रजिस्ट्रीके समय सभासदोंमें हम, ला० लालचन्द एम ए-प्लीडर (प्रधान), ला० ईश्वरदास एम० ए० प्लीडर रावलपिण्डी (उप प्रधान) मलिक ज्वालासहाय ठेकेदार ला० मदनसिंह बी० ए० (मन्त्री) ला० साईदास प्रधान आर्यसमाज लाहौर, ला० काशीराम प्लीडर मुल्तान, पं० गुरुदत्त एम० ए०, रायमूलराज एम० ए०, ला० गंगाराम सिविल इन्जिनियर आदिका नाम पाते हैं।

वैदिक आश्रम की नींव

आश्रमके नियम भी सन् १८८६ में प्रकाशित कर दिये गये। इन नियमोंमें एक नियम यह था कि कोई भी आश्रमवासी विद्यार्थी विवाह नहीं कर सकता था, और २० वर्षसे ऊंची आयु का युवक आश्रममें भरती नहीं होसकता था। सन् १८८६ में इस आश्रमकी स्थापना हुई और मा० दुर्गाप्रसाद, जोकि स्कूलके द्वितीय अध्यापक भी थे, इसके प्रथम अध्यक्ष नियुक्त हुए।

पश्चिमोत्तर प्रदेशमें

ऋषिकी स्मृतिमें पंजाबमें तो स्कूल खुल गया। पश्चिमोत्तर प्रदेश (संयुक्तप्रान्त) में भी आन्दोलन जारी रहा। सन् १८८७ में अजमेरमें इस प्रान्तकी आर्य प्रतिनिधि सभाका अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनमें कालेजकी स्थापनाका निश्चय किया गया और ६२६७) रु० चन्दा भी लिखा गया। एक सभा बनाई गई जिसके प्रधान बा० दुर्गाप्रसाद रईस फर्रुखाबाद और मन्त्री राजा जयकृष्णदास सी० एस० आई० नियत हुए। सदस्योंमें बा० ज्योतिस्वरूप, श्री रोशनलाल बैरिस्टर, साहू श्यामसुन्दरदास, पं० भगवानदीन और महाराजा करनल सर प्रतापसिंह (जोधपुर) के नाम हैं। परन्तु कालेजके स्थानका निश्चय न होसका, राजा जयकृष्णदास आगरेके गंगाधर (सरकारी) कालेज ही में रुपया लगानेके पक्षमें थे। सन् १८६५ तक भी इसका कोई निश्चय नहीं होसका— परन्तु रुपया बराबर एकत्र होता रहा। सन् १८६० ई० के अधिवेशन तक ही २२५००) एकत्र होचुका था।

इसी बीच पंजाबमें कालेजकी शिक्षाके सम्बन्धमें दो दल

होगये। राय ठाकुरदत्त ने एक पुस्तक लिखकर 'वेदप्रचार'के लाभ दर्शाये। कालेजके समर्थक शिक्षाप्रसारको ही वेदप्रचारका मूलसाधन बनाते थे। पंजाबमें तो स्कूल चल चुका था, परन्तु यहां अभी यह विचार-प्रवाह ही में था कि विवादका विषय बन गया। वेद प्रचार केलिए आर्यप्रतिनिधि सभाकी रजिस्ट्री अभी नहीं हो पाई थी, कालेज कमेटीकी रजिस्ट्री २६ अक्तूबर सन् १८६३ ई० कोही होचुकी थी। इधर यह विवाद छिड़ गया। अन्तमें ५ जनवरी सन् १८६७ ई० को सभाकी रजिस्ट्री भी होगई। और कालेजकमेटीने भी सन् १८६७ में ही मेरठ शहर में दयानन्द-एंग्लोवैदिक स्कूल खोल दिया। मन् १६०४ में यही स्कूल देहरादून लेजाया गया। यहां नेगी पूर्णसिंह जमींदारने ६००००) की सम्पत्ति स्कूलको प्रदान की। कालेजकमेटी और सभाके मेल-मिलाप केलिये प्रतिवर्ष उपसभायें बनतीं और प्रस्ताव होते—सन् १६०४ तक यह क्रम जारी रहा परन्तु कोई फल नहीं निकला।

३

सङ्गठन की दृढ़ता

प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना

इधर ऋषिके स्मारककी चर्चा चली, उधर देशभरमें बिखरे हुए आर्यसमाजोंको एक सूत्रमें पिरोनेका विचार भी आरम्भ होगया। ऋषिकी मृत्युके दो मास पश्चात् अजमेरमें परोपकारिणी सभाका अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशनमें पं० महादेवगोविन्द

रानाडेने वह प्रस्ताव किया कि आर्यसमाजोंको परस्पर और परोपकारिणी सभाके अधिक समीप लानेके लिए सब समाजोंकी एक प्रतिनिधि सभा बनाई जाय और परोपकारिणीमें आगे जो जगह ख़ाली हों वे इस ढंग पर भरी जावें कि परोकारिणीमें कम-सेकम आधे सदस्य इन प्रतिनिधि सभाओंमें से हों। प्रस्ताव सर्वस-सम्मति से स्वीकृत हुआ। १८८४ के सितम्बरमें बम्बई आर्य-समाजके उपप्रधान सेवकलाल, कृष्णदासने देशभरके आर्यसमाजों के प्रतिनिधियोंका एक 'प्रधान-आर्यसमाज' बनानेका प्रस्ताव सब आर्यसमाजों के सन्मुख रखा। आर्यसामाजिक पत्रोंमें भी इसकी चर्चा चली। परन्तु अन्तमें प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाके रूपमें विचार सफल हुआ।

४ या ५ अक्तूबरको लाहौरमें पंजाबके आर्यसमाजोंके प्रति-निधि एकत्र हुए। नियमोपनियमों पर विचार हुआ और प्रारम्भिक अंतरंगके १५ सदस्य नियत हुए। इनके प्रधान ला० साईंदास, मंत्री ला० मदनलाल बी०ए० और कोषाध्यक्ष ला० जीवनदास निर्वाचित हुए। इससे पहले अमृतसरमें २० समाजोंके प्रति-निधियोंने नियमोपनियमोंपर विचार किया था। उनके अनुसार प्रतिनिधि-सभाका कार्य सभाकेलिये प्राप्त चन्दा व जायदादका यथोचित व्यय और संरक्षण तथा आर्यसमाजोंको सम्मति देना है। यहां यह बात भी वर्णनीय है कि धार्मिक सिद्धान्तके विषयमें सभाकी सम्मतिको अन्तिम प्रमाण नहीं रखा गया, इस सम्बन्धमें वेद और सत्शास्त्र ही प्रमाण माने गये।

लाहौरके प्रतिनिधि लाहौर आर्यसमाजको ही केन्द्रीय समाज-

मानकर शेष समाजोंको इसकी शाखायें बनाना चाहते थे परन्तु ला० साईंदासजी आदि वृद्ध महानुभावोंने इसे स्वीकार न कर लाहौर आर्यसमाजको भी अन्य समाजोंकी भांति प्रतिनिधि सभाका एक अङ्ग रखना ही उचित समझा।

पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध (वर्तमान संयुक्त प्रान्त) में २८, २९ दिसम्बर सन् १८८६ को आर्यसमाज मेरठके उत्सवके साथ ही ४८ आर्यसमाजोंके प्रतिनिधियोंकी एक बैठक हुई। नियमोंपर गर्मागर्म बहस हुई। कार्य संचालनकेलिये एक समिति बनाई गई जिसके पदाधिकारी निम्न प्रकार नियत हुए।

मुन्शी लक्ष्मणस्वरूप (मेरठ), प्रधान; पं० बिहारीलाल, मंत्री; ला० रामसरनदास खजाञ्ची और बा० आनन्दबिहारीलाल पुस्तकाध्यक्ष। प्रतिनिधि सभा बनानेका विचार तो देरसे चल रहा था, पंजाबके पं० गुरुदत्त एम०ए०, ला० मूलराज, ला० हंसराज, ला० साईंदास आदि भी इस सलाह-मशविरेमें सम्मिलित थे। परन्तु यह विचार पंजाबमें पहले पहल फलीभूत हुआ और पश्चिमोत्तर प्रदेशमें पीछे। सभाके निममोंकी स्वीकृति पहले पहल दिसम्बर सन् १८८७ के प्रथम अधिवेशनमें हुई। यह अधिवेशन परोपकारिणी सभाके अधिवेशनके साथ-साथ अजमेरमें हुआ था। इस प्रकार इन दो प्रान्तोंमें आर्य-प्रतिनिधि सभाकी स्थापना होगई।

४
प्रचार-कार्य

ऋषि-निर्वाणसे लेकर प्रान्तोंमें प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभाओंकी स्थापना तकके इस कालमें आर्यसमाजके प्रचारकी दशाका उल्लेख कर हम आगे बढ़ेंगे। हम पहले ही दर्शा चुके हैं कि ऋषिकी मृत्युसे एक बार स्तम्भित होकरभी आर्यसमाज चैतन्य हुआ, वह अपने उत्तरदायित्वको अनुभव करने लगा। आर्यसमाजको जहां ऋषिकी स्मृतिमें वैदिक शिक्षणालय खोलने की धुन लगी वहां वह ऋषि द्वारा प्रचारित प्रचारके सिलसिलेको भी नहीं भूला। लाहौर आर्यसमाजकी स्थापनाके समय स्वामीजी की आज्ञासे समाजके प्रथम मन्त्री शारदाप्रसाद भट्टाचार्यनेभी उपदेश दिया था अर्थात् आर्य-मात्रको वेदका उपदेशक बनानेकी परिपाटी ऋषि स्वयं डाल गए थे। केन्द्रीय संगठनमें बन्धनेसे पहले प्रत्येक आर्यसमाज और उसका प्रत्येक सभासद् समाजका उत्साही प्रचारक था। फिरभी कुछ विशेष प्रचारक थे।

उस समयके सफल वक्ता तथा प्रचारकामें सबसे पहले हम ऋषिके मुख्य शिष्य स्वामी आत्मानन्दका नाम देखते हैं। आपका कार्यक्षेत्र पश्चिमोत्तर प्रान्त, राजपूताना तथा ग्वालियर आदि देशी रियासतें थी। आप जहां जाते आर्यसमाज स्थापित कर आते। ऋषिके दूसरे शिष्य स्वामी रामानन्द और ब्र० रामानन्द जो अब स्वा० शंकरानन्द बन चुके थे, पंजाबमें कार्य कर रहे थे। स्वामी सहजानन्दने भी अच्छा प्रचार किया, परन्तु पीछे उसे अपनी निर्ब-

लताके कारण आर्यसमाजसे पृथक् होना पड़ा । रोहतकके चौधरी नवलसिंहकी लावनियोंकी खूब धूम थी । आपके प्रचारका मुख्य विषय गोरक्षा था । बम्बईमें प्रचारका काम ऋषिके शिष्य महता कृष्णराम इच्छाराम कर रहे थे ।

राजपूतानासे स्वामीजीको बहुत आशा थी परन्तु वहां सफलतासे कार्य करना ऋषि दयानन्द जैसे निर्लेप, निर्भीक सन्यासीका ही काम था । उदयपुरके महाराणा सज्जनसिंहजी ऋषिके प्रमुख शिष्य थे, परन्तु एक वर्ष पीछे वह भी चल बसे । शाहपुर नरेश नाहरसिंहजीने उनका स्थान लिया । आपके ही उद्योगसे २६ मार्च सन् १८८५ को शाहपुरामें आर्यसमाजकी स्थापना हुई ।

इसी प्रकार जोधपुरमें स्वामीजीके शिष्य महाराजा श्री प्रतापसिंहजी थे, जो पीछेसे कर्नल और जी.सी.एस.आई. बने । आपने महर्षिके उपदेशसे अपना जीवन इतना नियमितकर लिया था कि जहां सदा रोगी रहा करते थे वहां अब सेनामें कप्तान बने और मैदानमें जाकर भिड़े । इन्हीं महाराजके निजू शरीर-सेवक मं० लक्ष्मणके उद्योगसे विक्रम संवत् १९४२ वि० में जोधपुर आर्यसमाजकी स्थापना हुई ।

आर्यसमाजों की स्थापना

प्रचारका बाह्य स्वरूप आर्यसमाजोंकी स्थापना था । ऋषि दयानन्दकी मृत्युके एक मास पश्चात् मेरठके 'आर्यसमाचार' के लेखानुसार ७९ नगरोंमें आर्यसमाज विद्यमान थे , सन् १८८५ के अन्तिम महीनोंमें लाहौरकी आर्यपत्रिकाकी रिपोर्टके अनुसार

भारतभरकी आर्यसमाजोंकी संख्या २५० थी। इन दिनों आर्य-समाजोंकी अधिक संख्या पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान संयुक्त प्रान्त) में थी। १८८६ के अन्तमें अकेले इस प्रान्तमें ६० आर्यसमाज थे। आर्य पुरुषोंकी आर्यसमाज स्थापनाकी लगनका यह हाल था कि लन्दनमें भी ला० लक्ष्मीनारायणके उद्योगसे १८ अप्रैल १८८६ को आर्यसमाजकी स्थापना हो गई। ये महाशय बैरिस्टरी पास करने वहां गये थे। इस समाजमें ६ प्रारम्भिक सदस्य बने। ला० रोशनलालभी इनमेंसे एक थे।

शास्त्रार्थ व संघर्ष

इस युगमें साधारण आर्यपुरुष जहां प्रचार कार्य करते थे वहां शास्त्रार्थ और संघर्षसे भी वे संकोच नहीं करते थे। ऋषि दयानन्दकी चौमुखी लड़ाई और उनकी विजयने आर्यपुरुषोंको अद्भुत दृढ़ता सिखादी थी। उन्हें विश्वास था कि सत्य उनके साथ है—इसलिये साधारण-सा आर्यसमाजी भी बड़े-बड़े पंडितों से अड़ जाता था। सन् १८८३ के अन्तमें हम कालकाके आर्य-सभासद पं० गोपीचन्द और ला० खुशीरामजीको दो मौलवियोंसे उलझा हुआ पाते है। आर्य समाचार-पत्रोंमें थ्योसोफिकल सोसाइटीकी पोल खोलने वाले लेख प्रकाशित हो रहे थे। परन्तु १८८४ के मध्यसे ये दोनों एक दूसरे को भूलने लगे।

ब्रह्मो समाजके सिद्धान्त ऐसे लचकीले हैं कि उनसे किसीकी टक्कर नहीं होती। कहीं कहीं, जैसे कोटामें, आर्यसमाजके अधिवेशन तक- ब्रह्मोसमाजके मन्दिरमें होते रहे।

देवसमाजके संस्थापक सत्यानन्द अग्निहोत्री थे। पहले ये

पं० शिवनारायण अग्निहोत्री थे और पंजाबमें ब्रह्मोसमाजके एक स्तम्भ थे। सन् १८८२ में इनका दूसरा विवाह हुआ और फिर कुछ ही दिन बाद सन्यासी हो गए, परन्तु स्त्री और बच्चोंसे सन्यास नहीं लिया। सन्यास धारणकर आपने अपने देवत्वका दावा कर देवसमाजकी स्थापनाकी। आर्यसमाजका इनके साथ इतना संघर्ष हुआ कि इनका उत्तर देनेके लिए ही "धर्म-जीवन" नामक पत्र का जन्म हुआ।

शुद्धि

विधर्मियोंके लिएभी आर्यसमाजका द्वार आरम्भसे ही खुला रहा है। स्वयं ऋषिके हाथों 'उमरदीन' अलखधारी बना था। जेष्ठ सं० १९४१ के 'आर्यसमाचार' में यह सूचना निकली कि (१) आर्य-समाज अमृतसरने अबतक ४० व्यक्तियोंको जो देरसे ईसाई और मुसलमान बने हुए थे आर्य बनाया। (२) रियासत राजगढ़में बहुतसे मुसलमान आर्य बनाए गए। (३) आर्यसमाज रावलपिंडी के उपदेशसे दो व्यक्तियोंने इस्लामको छोड़कर वैदिकधर्म ग्रहण किया।

शुद्धिके सम्बन्धमें उन दिनों निम्न आशयका समाचारभी प्रकाशित हुआ—"महाराज कश्मीरने धर्म सभामें यह कानून पास कर दिया है कि जो हिन्दू विधर्मी हो गए हैं, वे तीस बरस तक अपनी बिरादरीमें वापस आसकते हैं। बनारस के पण्डितों ने भी श्री काशी नरेशकी अध्यक्षतामें इस कानूनका समर्थन किया।"

मुख्य-मुख्य समाजें

इस समय पञ्जाबमें लाहौर, अमृतसर और जालन्धर; पश्चिमो-

त्तर प्रदेशमें मेरठ और सहारनपुर तथा बम्बई प्रान्तमें बम्बईके आर्यसमाज मुख्य थे। लाहौर आर्यसमाज शिक्षासम्बन्धी जोशके लिए विख्यात था। इसकी सारी शक्तियां डी० ए० वी० स्कूलपर केन्द्रित थीं। ला० साईंदास इनके अगुआ थे। ला० हंसराज और ला० लाजपतराय उत्साहसे काम कर रहे थे। पं० गुरुदत्त एम० ए० कीभी सारी शक्ति डी० ए० वी० स्कूलपर लगी हुई थी, परन्तु ये और इनके साथी व अनुयायी शिक्षाको साधन समझकर ही कालेजके साथ थे।

जालन्धर समाज वेदप्रचार और स्त्रीसुधारमें लगा हुआ था। इसके उत्साही मन्त्री ला० देवराज और ला० मुन्शीराम धर्मप्रेम, 'दृढ़विश्वास और धार्मिक आवेशकी मूर्ति थे। ये लोग मण्डलियां बनाकर आसपासके गांवोंमें प्रचार करते थे। सन् १८८६ ई० के अक्तूबरमें आर्यसमाजने एक महत्वपूर्ण कार्यकी ओर पग बढ़ाया—यह पग स्त्री-शिक्षाके लिए कन्यापाठशालाकी स्थापना था।

कन्यामहाविद्यालय

जालन्धर आर्यसमाजका यह पौधा ही पीछेसे विशाल कन्यामहाविद्यालयके रूपमें परिणत हुआ। वस्तुतः स्त्री-शिक्षण भी ऋषिदयानन्द और आर्यसमाजके विस्तृत कार्यक्रमका एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। ऋषिके समय 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्' को श्रुति माना जाता था, ऋषिने अपने व्याख्यानोंमें, ग्रन्थोंमें इसका खण्डन किया। ऋषिने साक्षात् कभी स्त्रियोंको शिक्षा नहीं दी, परन्तु माई भगवती और पण्डिता रमाबाईको विशेष प्रबन्धसे उनसे शिक्षा लेनेका सौभाग्य प्राप्त होसका था। फिरोजपुरमें

अनाथालयके साथ कन्यापाठशालाभी ऋषिके आदेशसे ही खुली थी। इस प्रकार स्त्री-शिक्षा आर्यसमाजके कार्य क्रमका एक महत्व-पूर्ण भाग था। लाहौर आर्यसमाजने दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेजकी स्थापनाकी। इधर जालन्धरके उत्साही नवयुवकोंने कन्यापाठशाला खोल दी। पहले-पहल ला० देवराजजीके घरही यह पौधा लगा। परन्तु इसकी नियमपूर्वक स्थापना सन् १८६१ई० में हुई। इस नव-ज़ीवनका श्रेय ला० देवराज और मुंशीरामको था। आगे चलकर हम देखेंगेकि इस महाविद्यालयकी उन्नतिभी आर्यसमाजके दो दलोंमें प्रतिस्पर्धाका कुछ सीमातक कारण बनी।

पेशावरमें एक और व्यक्ति चुपचाप ठोस कार्य कर रहा था। ये धर्मवीर थे पं० लेखराम। आपने इस्लामके गढ़ पेशावरसे ही 'धर्मोपदेश' नामक पत्र निकाला। सन् १८८५ से वे बटाला आ बैठे और इस्लामी सिद्धान्तोंका खंडन करने लगे। इस समय वे मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानीके ग्रन्थोंका खंडन कर रहे थे।

पश्चिमोत्तर प्रदेशमें मेरठ और सहारनपुरके आर्यपुरुष पण्डित भगवानदीन, मुन्शी लक्ष्मणस्वरूप, पं० उमरावसिंह, व रामदुलारे बाजपेयी और बा० ज्वालाप्रसाद विशेष उत्साहसे काम कर रहे थे। प्रयागमें परोपकारिणीका वैदिक प्रेस था, इसे स्वामी दयानन्द जीने स्थापित किया था। १८८७ई०से इसका प्रबन्ध पश्चिमोत्तर प्रदेशकी आर्यप्रतिनिधिसभाके आधीन रहा। यहां पं० भीमसेन शर्मा और पं० ज्वालाप्रसाद ऋषिकृत वेदभाष्य तथा अन्य ग्रन्थोंके प्रकाशनका कार्य करते थे।

आन्तरिक शुद्धि

परन्तु आर्यपुरुषोंका मुख्य आधार इन दिनों वैदिक शिक्षाओं का जीवनमें अधिकसे अधिक आचरण ही था। वे अपने साथियों और सहयोगियों तकके ढोंगको पसन्द नहीं करते थे। जो आचरणमें विशेष थे, वही आगे भी बढ़ रहे थे। स्वामी स्वात्मानंद, स्वामी सहजानन्द, प्रसिद्ध चौधरी नवलसिंह, स्वामी आलाराम जैसे प्रभावशाली वक्ताओं तकको अपनी निर्बलताके कारण आर्यसमाजका प्लेटफार्म छोड़ना पड़ा। अयोग्य व्यक्तियों पर अंकुश रखनेकी वह प्रवृत्ति आरम्भसे ही आर्यसमाजमें पाई जाती है। स्वयं स्वामीजी महाराजने मुरादाबादके मुन्शी इन्द्रमणि के सम्बधमें आर्यसमाजको ऐसी सलाह दी थी।

हवन और वैदिक संस्कारोंके प्रति आर्यसमाजियोंमें खूब प्रेम था। डेरा गाजीखां तथा हमीरपुरमें हैज़ा फैला, यज्ञ किया और हैजा रुक गया।

समाचार पत्र

इधर लिखित प्रचारके साधन समाचार-पत्र भी बढ़ रहे थे। आर्यसमाचार (मेरठ), भारत सुदशाप्रवर्तक (फरुखाबाद) तो ऋषिके जीवनकालसे ही निकल रहे थे। मार्च सन् १८८२ में अंग्रेजी भाषामें लाहौरसे आर्या निकला। परन्तु इसके सम्पादक कुछ अर्थ-लोलुपता के कारण अप्रिय होगये, साथ ही 'आर्या'पत्रिका' साप्ताहिक अंग्रेजी ने इसकी आवश्यकता भी कम करदी, यह बन्द होगया। इन्हीं दिनों लाहौर से 'रिजेनरेशन ऑव आर्यावर्त' (Regeneration of Aryavrat) जारी

हुआ। १ मई सन् १८८५ को मुरादाबाद से 'आर्य विनय' और इसी वर्ष जुलाई मास में फिरोजपुरसे उर्दू में 'आर्यगज़ट' निकलने लगा। अजमेरसे देशहितैषी (हिन्दीमासिक), बरेली से आर्य-पत्र (हिन्दी उर्दु) बम्बई से आर्यप्रकाश (गुजराती) इन्हीं दिनों प्रकाशित हुए। ये प्रायः मतमतान्तरों की उग्र समीक्षाओंसे भरे होते थे। परन्तु अंग्रेज़ीकी 'आर्यपत्रिका' की लेखशैली अधिक सौम्य थी। उसके १२वें ही अङ्क में उस समयकी शास्त्रार्थ प्रणालीके विरुद्ध लेख प्रकाशित हुआ था।

गोरक्षा-प्रचार

इस अध्यायको समाप्त करनेसे पहले हम चौधरी नवलसिंहके गोरक्षा सम्बन्धी प्रचारका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं। चौधरीजीकी लावनियों की धूम मची हुई थी। उन्होंने स्वामी आलारामकी सहायतासे सन १८८५के मध्यभागमें पंजाबसे गायें और धन जमा किया। इन्हीं दिनों वे हरिद्वार गये। यहांकी अवस्था देख वे विह्वल हो उठे। यजमान यहांके पण्डोंको गोदान करते थे। पण्डे उन्हें सम्भाल तो नहीं सकते थे, मुसलमानोंके हाथ बेच देते थे। हरिद्वारके पुण्यक्षेत्रमें गोमाताकी यह दीन दशा देख चौधरीजीकी दृढ़ता चौगुनी होगई, उन्होंने प्रयत्न करके ब्राह्मणोंसे वचन लिया कि (१) वे यात्रियोंसे जीवन पर्य्यन्त हिंसक के हाथ गाय न बेचनेका संकल्प लिया करें (२) गोदानके फण्डसे वहां एक गोशाला बने, प्रतियात्रीसे जो १ आना गोदानके नामसे लिया जाता है उस फण्डसे यह गोशाला चले। ब्राह्मणोंने चौधरी जीकी बात मान ली। ब्रह्मकुंडपर गोरक्षाके नियम लिखकर लगा

दिए गए। पं० भवानीदत्त ज्योतिषीकी अध्यक्षतामें गोशाला बनानेका निश्चय हो गया।

परन्तु इस समाचारसे जगाधरी, रुड़की आदिकी धर्मसभाओं में खलबली मच गई। उन्होंने इसे दयानंदियोंकी विजय समझा। उनके बहकानेमें आकर हरिद्वारके पण्डेभी बदल गए। अब चौधरी जीने उग्ररूप धारण किया। वे अपनी धुनके पक्के थे।

उन्होंने पंडोंके इस दुष्कर्मकी सारे उत्तरीय भारतमें डोंडी पीट दी। पंडोंके यजमान अपने पंडोंसे बिगड़ गये। १२ मई सन् १८८६ में कनखलमें एक भारी सभा हुई। इस सभासे भी पंडे नाराज़ रहे, परन्तु आर्यपुरुषोंके उद्योगसे १५ मईको गो-रक्षिणी सभा स्थापित हो गई। पीछे पंडे भी सीधी राह लगे। उन्होंने स्वयं एक गोशाला स्थापितकी, जो कुछ दिन चलती रही।

सन् १८८६-८७ तक इसी प्रकार आर्यसमाज शांतिसे अपना मार्ग बना रहा था।

❖❖❖❖❖❖

प्रश्न

(१) ऋषिने अपना उत्तराधिकारी किस महापुरुषको नियुक्त किया? यदि नहीं तो क्यों नहीं?

(२) ऋषि-निर्वाणके पश्चात् उनके अनुयायियोंने अपना उत्तरदायित्व अनुभव किया—इसकी पुष्टिमें कुछ लिखिए।

(३) दयानन्द एंग्लो-वैदिक स्कूल लाहौरकी स्थापना कैसे हुई? इसका क्या उद्देश्य था?

(४) पहलेपहल आर्य-प्रतिनिधि-सभा किस प्रान्तमें स्थापित हुई, इस स्थापनाका क्या प्रयोजन था?

प्रान्तीय सभाओं की प्रगति

(संवत् १९४५ वि० से संवत् १९८१ वि० तक)

—:*:—

१

सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा का जन्म

बम्बईमें प्रथम आर्यसमाजके नियमोंमेंसे तीसरा नियम यह था कि "इस समाजमें प्रति देशके मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा-प्रशाखा होंगे।" फिर ऋषिने अपनी वसीयतमें भी देशदेशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरमें वैदिक धर्म फैलानेका आदेश दिया। इस प्रधान समाजका मुख्य कार्य सब समाजोंकी शक्तियोंको केन्द्रित करना ही था। ऋषिके देहावसानके पश्चात् आर्यपुरुषोंने इसकी आवश्यकता एकदम अनुभव की और सितम्बर सन् १८८४ में हम बम्बई आर्यसमाजके उपप्रधान सेवक-लाल कृष्णदासका यह प्रस्ताव देखते हैं कि सम्पूर्ण भारतका एक प्रधान समाज बनाया जाय। हम पहले लिख आये हैं उन दिनों यह भी यत्न किया गया कि ऋषि द्वारा निर्मित परोपकारिणी सभा ही किसी प्रकार केन्द्रीय प्रतिनिधि-सभा बन जावे। परन्तु इसमें सफलता नहीं हुई।

इधर पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेशके आर्यपुरुषोंने प्रांतीय संगठन बनानेका विचार किया। हम ऊपर देख आए हैं कि वह किस प्रकार सफल हुआ। इसके पश्चात् सन् १८८२ई० में राजस्थान

व मालवा, सन् १८९९ ई० में बंगाल व बिहार की संयुक्त व मध्यप्रदेश और सन् १९०२ ई० में बम्बई प्रांतीय प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हुई। यह सब होते हुएभी केन्द्रीय संगठनकी आवश्यकता अनुभव की जाती रही। पंजाब प्रान्तीय सभाके दूसरे नियममें ही समस्त भारतवर्षकी सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभाका नाम दीख पड़ता है। जब कभी बड़े बड़े मेलों पर सब प्रान्तोंके आर्यपुरुष एकत्र हो प्रचार करते तब तो यह विचार औरभी प्रबल रूप धारण करता। संवत् १९५६ (सन् १९००)में भारत धर्म महामण्डलके उत्सवके साथ साथ देहलीमें आर्यसमाजकाभी एक महोत्सव हुआ। यहां खूब विचार विनिमय हुआ। महात्मा मुंशीरामजी गुरुकुलकीजो योजना बना रहे थे उसे किसी एक प्रांतकी न कहकर सारे भारत-वर्षकी संस्था बनाना चाहते थे। उन्होंने शीघ्रातिशीघ्र सार्व-देशिक प्रतिनिधि सभा बनानेपर बल दिया। देहलीके उक्त महोत्सव पर एक उपसमिति नियमादि बनानेके लिये बनाई गई परन्तु १७ मार्च १९०८ तक नियमादि निश्चत न हो सके। अन्तमें २५ सितम्बर १९०८को नियमोंका अन्तिम रूप स्वीकृत हुआ। आगरामें हुई इस अनियमित सभामें निम्न सज्जन उपस्थित थे:—

(१) पं० भगवनदीनजी, प्रधान आ० प्र० सभा संयुक्त प्रान्त; (२) म० रामप्रसादजी बी०ए०, आगरा; (३) म० मुन्शीरामजी मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी; (४) ला० रामकृष्णजी, प्रधान आर्य प्र० स० पंजाब; (५) कुंवर हुक्मसिंहजी, प्रधान आ० प्र० स० राजस्थान; (६) मुन्शी हीरालालजी, उपप्रधान आ० प्र० स० राजस्थान; (७) पं० काशीरामजी तिवारी, प्रधान आ० प्र० स०

मध्यप्रदेश; (८) ला० नन्हेलालजी. सभासद् आ० प्र० सभा मध्यप्रदेश; (९) ठा० शिवरत्नसिंहजी, (मध्यप्रदेश); (१०) बा० मिथलाशरणसिंहजी, मंत्री आ० प्र० सभा बंगाल व बिहार; (११) बा० श्यामसुन्दरलाल जी, (संयुक्त प्रान्त); (१२) बा० शिव गोविन्दसिंहजी (बिहार) ।

नियमोंके अनुसार प्रान्तोंसे प्रतिनिधि चुनकर आनेमें कुछ समय और लगा और ३१ अगस्त १९०९को सभाका नियमित अधिवेशन देहलीमें हुआ। इस प्रथम अधिवेशनमें पंजाबके ७, संयुक्तप्रांतके ७, राजस्थानके ४, बंगाल-बिहारके ४, मध्यप्रदेश व विदर्भके ३ और बम्बईके दो प्रतिनिधि सम्मिलित थे। पंजाबकी प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाके प्रतिनिधि भी निमन्त्रणपर आए थे। परन्तु पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा इसपर सहमत नहीं हुई और फिर वे स्वयं ही सम्मिलित नहीं हुए।

इस प्रकार यह सभा सन् १९०९ में स्थापित तो होगई, परन्तु मथुराशताब्दि सन् १९२५ तक इसकी शक्ति न बढ़ पाई। सार्वदेशिक सभाकी शक्ति बढ़ने तक आर्यपुरुषोंका ध्यान अपने प्रान्तमें ही केन्द्रित रहा। इस अध्यायमें हम देखेंगे कि मथुराशताब्दिसे पहले तक आर्यसमाजकी प्रगति कैसी रही।

२

गहन मतभेद और दो दल

आर्यसमाजके इतिहासके इस कालकी पहली मुख्य घटना कार्यकर्ताओंका पारस्परिक मतभेद है। हम पहले दिखा आये हैं

कि ऋषिकी मृत्युके पश्चात् किस प्रकार लाहौरमें दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक स्कूलकी स्थापना हुई। यों तो इस स्कूलकी स्थापनाके साथ-ही-साथ मतभेदका अंकुर दिखाई देने लगा था। स्वामीजीके पश्चात् परोपकारिणी सभा ही उनकी उत्तराधिकारिणी थी। लाहौरमें ऋषिका स्मारक बनानेमें अन्य प्रान्त विशेषकर राजपूताना और पश्चिमोत्तर प्रदेशके आर्योंको यह आपत्ति थी कि परोपकारिणीके पूछे बिना लाहौरमें ही यह स्मारक क्यों बनाया गया। परन्तु यह कोई सिद्धान्तका प्रश्न नहीं था—पञ्जाबके आर्य उत्साही और कार्यकर्ता थे—वे आगे बढ़चले और सब उनके पीछे चलपड़े।

परन्तु शीघ्र ही एक और विरोध सुनाई दिया। १५ फर्वरी सन् १८८७ ई० के कलकत्तेके 'आर्यावर्त' में यह शिकायत छपी कि स्कूलमें संस्कृतपर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। पाठविधिसे यह असन्तोष ही पंजाबके आर्य समाजियोंमें मतभेदका पहला कारण हुआ।

असन्तोष क्यों?

उस समयका साहित्य पढ़नेसे निम्न बातोंका होना पाया जाता है:—

(१) २३ दिसम्बर सन् १८८३ ई० को कालेजके लिये प्रकाशित अपीलमें कालेजके उद्देश्यके सम्बन्धमें बताया गया कि (क) प्रस्तावित कालेजमें संस्कृत भाषाका उच्च कक्षा तक अध्ययन होगा, वेद-प्रचारके ग्रन्थ पढ़ाये जांयगे और (ख) जीविकोपार्जन एवं पाश्चात्य विद्याओंकी प्राप्तिकेलिये अंग्रेजी शिक्षा भी होगी।

सोसाइटीके रजिस्टर्ड नियमोंमें यही बात सुन्दर ढंगसे लिखी गई है।

(२) इस कालेजकेलिये अपील करते समय पं० गुरुदत्त एम०ए० ब्रह्मचर्य, वेदवेदांग, आर्य संस्कृति और प्राचीन शिल्प तथा विद्याओंके उद्धारका उज्ज्वल चित्र खींचा करते थे। पं० गुरुदत्तजी अपने आख़री दिनोंमें भी इन्हीं आदर्शोंको लेकर उत्सवों पर धनकी अपील करते थे; परन्तु वे कालेजका नाम नहीं लेते थे। दूसरे शब्दोंमें वे कालेजसे इस आदर्शकी पूर्तिके सम्बन्धमें निराश थे। परन्तु, इतने पर भी उनके जीते-जी यह मतभेद कलहका रूप नहीं धारण कर पाया।

(३) इधर संचालक समझते थेकि वे इस अवस्थामें जितना होसकता है कर रहे हैं। प्रतीत होता है कि संस्कृतपर अधिक बल देने वाले स्कूलमें छात्रोंके मिल सकनेकी उन्हें आशा नहीं थी। फर्रुखाबाद आदिमें ऋषि द्वारा स्थापित संस्कृत पाठशालाओंकी-सी दशासे डरते थे। फिर जीविकोपार्जनका भी तो प्रश्न था। अंग्रेजी राज्यकी नींवको दृढ़ करने वाले पढ़े-लिखे नवयुवकोंकी सेना तय्यार करनेकेलिए सरकारी और ईसाइयोंके स्कूल खुल रहे थे। इस क्षेत्रमें भी ईसाइयतका मुकाबला करना आवश्यक प्रतीत होता था। २५ वर्षका कालेजका वृत्तान्त लिखते हुए कालेज-सोसाइटीके प्रधान ला० लालचन्द सन १९११ ई० में लिखते हैं कि "मसविदेमें वर्णित आदर्शकी पूर्ति—मैं विश्वाससे कह सकता हूँ कि समितिके प्रत्येक सदस्यके हृदयमें संस्थाका वही आदर्श है—अभी बहुत दूर है।" फिर यहभी लिखाकि "एक कठिन समस्या यह है कि

इस प्रांतमें इस विश्वासके आधारपर कि संस्कृत पढ़ना कठिन है, इस विषयकीओर शुरूसे ही अरुचि पाई जाती है, इसे कैसे दूर किया जाय ?" स्मरण रखना चाहिए कि पाठविधिसे उत्पन्न असन्तोषको दूर करनेके लिए सोसाइटीके प्रधानने नई योजना सन् १८६१ ई० में बनाई थी जिसके अनुसार विद्यालय विभागमें ही अर्थ सहित अष्टाध्यायी, मनु और दयानन्दकी धर्मशिक्षाओंका कुछ भाग और रामायण व महाभारत काव्योंकी शिक्षाकी व्यवस्था थी। परन्तु यह विधि क्रियान्वित न हो सकी।

(४) कुछभी हो, संचालकों द्वारा पाश्चात्य विज्ञान तथा शिक्षाको मुख्यस्थान देने के कारण संस्कृत के प्रेमियों में असंतोष होने लगा। पं० गुरुदत्त एम० ए० असन्तुष्ट व्यक्तियोंमें अग्रणी थे। वे कालेजमें वेद तथा शास्त्रों की प्रधानता चाहतेथे। लाला लालचन्द और ला० साईंदास कालेज कमेटीके अगुआ थे।

(५) पं० गुरुदत्त जी व ला० साईंदास जी का देहान्त

इसी समय मार्च सन् १८६० ई० में पं० गुरुदत्त जी चल बसे। अत्यधिक मानसिक परिश्रम उनके शरीरको ले बैठा। इसी वर्ष जुलाईमें वयोवृद्ध ला० साईंदास का देहान्त होगया। आर्यसमाज के नवयुवक उन दोनों नेताओं के प्रभावमें थे। ला० साईंदास अनुभव वृद्ध थे, तो पं० गुरुदत्त ज्ञान-वृद्ध। परन्तु दोनोंकी प्रवृत्ति में अन्तर था। ला० साईंदास वास्तविकतावादी थे और पं० गुरुदत्त थे आदर्शवादी। आदर्शवादी गुरुदत्त और उनके अनुयायी आदर्श-धर्मके दीवाने थे—उन्हें थोड़ीसी भी कमी खटकती थी। ला० साईंदास और उनके भक्त आदर्शका पालन समयके अनुसार

करना चाहते थे—वे जाति प्रेमके दीवाने थे, जिससे जातिका वर्तमानमें भलाहो उसे ही वह उसका धर्म भी मानते थे।

दोनों नेताओं की मृत्यु लगभग साथ-ही-साथ हुई। अब अनुयायी अपने आपको न संभाल सके और मतभेदकी बातों पर लेखबद्ध विवाद-संवाद चल पड़े।

(६) ऊपर हम आदर्शवाद और वास्तविकतावाद की दो प्रवृत्तियां दिखला आये हैं। इस प्रवृत्तिभेदका प्रभाव और कई रूपोंमें सामने आया। वह यह कि पंजाबमें मांसाहारका देर से प्रचार था। ऋषिदयानन्द और आर्यसमाजने सिद्धान्त रूपसे इसे सदा त्याज्य माना है। प्रतीत होता है कि उस समय पंजाबके ला० साईदासजी जैसे प्रभावशाली नेता भी इसे छोड़ नहीं सके थे। मांसाहारसे जातिमें निर्भयता, पुष्टि आदि उत्पन्न होनेकी युक्तियोंको तो पीछेसे पक्षपुष्टिका साधन बनाया गया। आगे चलकर मांसाहारको पाप न माननेकी युक्ति भी दी जाने लगी।

(७) आदर्शवादी नवयुवकोंने जालन्धरमें कन्या पाठशाला भी खोलदी। यह भी एक विवादका विषय बन गया। कालेजके संचालकोंका स्वभावतः यह भी विचार हुआ कि आर्यसमाजकी शक्तियां परिमित हैं, लड़कोंका कालेज अभी अपने पैरों खड़ा नहीं हो पाया है। फिर वे पर्दा-त्याग, उच्च-शिक्षा आदिको अभी समयसे पहलेकी बात समझते थे। परन्तु जालन्धरके नवयुवक आर्यसमाजी क्रांतिमें विश्वास रखते थे।

इस प्रकार प्रवृत्तिभेदसे दो प्रकारके विचारकोंमें आर्यपुरुष बंट गये। मांस-भक्षणके विवादको भी कटुताकी सीमा तक

पहुंचा दिया गया। एक दूसरेकी अच्छी-बुरी समालोचना होने लगी*। हम यहां उस विस्तारमें नहीं जायंगे। केवल उस समयका रुख दिखलाकर ही इस विषयको समाप्त करेंगे।

विरोध यहां तक बढ़ा कि सन् १८९२ ई०में लाहौर आर्यसमाजका उत्सव अन्तिम सम्मिलित उत्सव रहा। उत्सवमें ही मांसभक्षकके आर्य-सभासद् रहने न रहनेका विवाद खड़ा होगया और इसके पश्चात् समाजके पदोंपर मांसाहारके विरोधियोंका अधिकार हो गया। कालेजके समर्थकोंका पृथक् समाज बन गया।

सन् १८९४ में कालेज-सोसाइटीसे 'धर्मात्मा-दल' पृथक् हो गया, और अब दोनों दल पृथक्-पृथक् अपना काम करने लगे। सोसाइटीने कालेज सम्भाल लिया और आर्य-प्रतिनिधि-सभा प्रचार और कन्या-शिक्षणमें लगी रही। मार्च सन् १८९७ में धर्मवीर पं० लेखरामके बलिदानके समय दोनों दलोंने फिर मिलकर काम करनेका निश्चय किया, परन्तु यह मेल चिरस्थायी नहीं रहा। २५ दिसम्बर १८९७ को सोसाइटीने और ११ जनवरी १८९८ को आर्य-प्रतिनिधि सभाने अपने चारों ओर ऐसी बाड़ें खड़ी करलीं कि एक दूसरेके विरोधी उनके सभासद् न बन

नोट—*कालेजके समर्थकोंको व्यंग्य-ही-व्यंग्यमें कल्चर्ड (संस्कृत) और धर्मप्रचारके समर्थकों को 'धर्मात्मा' कहा जाने लगा। ८ अप्रैल १९०१ को जब कि धर्मात्मा दलके नेता ला० मुन्शीरामजी गुरुकुलकेलिये ३००००) से अधिक रुपये एकत्र कर लाये तो उन्हें मानपत्र देते हुए लाहौर आर्यसमाजने 'महात्मा' की उपाधि प्रदान की। तबसे यह दल भी 'महात्मा दल' कहलाने लगा।

सकें। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रतिनिधि-सभाका नियम मांसाहारको वेदानुकूल माननेवालोंको ही सभासद् बनने से रोकता है।

संयुक्त-प्रान्तमें

इस मतभेदका प्रभाव संयुक्त-प्रान्तपरभी पड़ा। प्रसिद्ध वाग्मी पं० कृपारामजी (बादमें स्वामी दर्शनानन्दजी)ने वहां धर्मप्रचारका समर्थन और कालेजकी शिक्षा-प्रणालीका विरोध आरम्भ किया। फल यह हुआ कि वहां स्कूल खुलने से पहले ही उसके विरोध में कुछ प्रभावशाली व्यक्ति होगये। १८६३ में कालेज कमेटी पृथक् रजिस्टर्ड होचुकी थी। प्रतिनिधि सभा रजिस्टर्ड नहीं थी। दोनोंको एकत्र रखनेका प्रयत्न किया गया। परन्तु इस विवादके कारण १८६७ तक कोई निश्चय नहीं हो सका। अन्तमें १८६७में कालेज कमेटीने स्कूल खोल दिया और प्रतिनिधिसभाकी पृथक् रजिस्टरी हो गई। संयुक्तप्रान्तमें कालेज कमेटीको वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी कि पंजाबमें।

३

मतभेद के पश्चात्

प्रचार-निधि

आर्यसमाजमें दो दल होजानेका प्रथम परिणाम पृथक् पृथक् क्षेत्रोंमें पहलेसे अधिक उत्साहपूर्वक कार्य करनेकी प्रवृत्तिका आरम्भ हुआ। पञ्जाब और संयुक्तप्रान्त दोनों ही आर्यप्रतिनिधि

सभाओंने 'वेदप्रचार-कोष'का स्थापना कर इसके लिए धन एकत्र करनेका कार्य आरम्भ किया। पञ्जाब प्रतिनिधि सभाकी साधारण सभाके २ सितम्बर सन् १८९४ ई० के अधिवेशनमें इस वेदप्रचार निधिके निम्न उद्देश्य रखे गये—

(१) उपदेश करना-कराना और पुस्तक आदि तय्यार करना। (२) उपदेशकों और उपदेशिकाओंको तय्यार करना। (३) आर्य धर्मकी वृद्धि और उन्नतिके लिए एक पुस्तकालय स्थापित करना। (४) लाहौरमें विद्यार्थियोंके लिए एक आश्रम खोलना। सभाके इस निश्चयका स्पष्टतया प्रचार करनेके लिए राय ठाकुरदत्त-जीने 'वैदिक-धर्म-प्रचार' नामक पुस्तक लिखी। 'वैदिक-धर्म-प्रचार' का सन्देश सयुक्त प्रान्तमें भी पहुँचा—वहां सन् १८९५ में इसके लिये एक उपसमिति स्थापित हुई जिसके संयोजक मुन्शी नारायणप्रसादजी (वर्तमान महात्मा नारायण स्वामीजी) बने। इस प्रकार आर्यसमाजमें वैदिकधर्म प्रचारका कार्य आरम्भ हुआ।

उपदेशक पाठशाला

पंजाबमें इस योजनाके अनुसार शीघ्र ही काय आरम्भ होगया। कालेजकी पाठविधिसे असन्तुष्ट व्यक्तियोंके आन्दोलनको शांत करनेके लिये स्वयं कालेजके संचालकोंने प्रतिनिधि सभामें आर्यो-पदेशक पाठशाला खोलनेका प्रस्ताव सन् १८८९ में ही कर दिया था, इसके नियम तभीसे बनते रहे और सन् १८९१ ई० के आरम्भ में यह श्रेणी खोलदी गई। इस पाठशालाके विद्यार्थियोंके लिये यह आवश्यक था कि वे आश्रममें अपने आचार्यके निरीक्षण में रहें।

प्रतिनिधि सभाका मुख्यकार्य वेदप्रचार बन जानेपर यह पाठ-शाला ही योग्य उपदेशक तय्यार करनेवाली पाठशाला बन गई। सन् १८६४ में इसके एक छात्र पं० भक्तरामको हम मुजफ्फर-गढ़ समाजमें प्रचारक नियत हुआ देखते हैं। सन् १८६५ में इसमें अंग्रेजी शिक्षा भी सम्मिलित करदी गई। और यह पाठशाला लाहौरसे जालन्धर चली गई। पं० गंगादत्तजी (आगे चलकर गुरुकुलके काँगड़ीके प्रथम आचार्य और सन्यासाश्रममें श्री शुद्धबोध तीर्थ) इसके आचार्य नियत हुए। पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० नरदेव शास्त्री, पं० विष्णुमित्र आदि सामाजिक कार्यकर्ता और विद्वान् इसी पाठशालाके छात्र थे। सन् १८६८ में इस पाठशालाका भार गुजरांवाला समाजने ले लिया और यह वहां चली गई। सन् १६०० में इस पाठशालाके साथ ही गुरुकुल की श्रेणियां खोल दी गईं। सन् १६०१ ई० में गुरुकुलकी श्रेणियां तो हरिद्वार चली गईं, परन्तु यह पाठशाला सन् १६०६ ई० तक चलती रही। इस समय तक आर्यजगत्की सारी आशाओंके केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी और गुरुकुल शिक्षाप्रणाली बन चुके थे। सम्भवतः इसीलिये इसकी उपेक्षा हो गई।

सभाका पृथक् स्कूल

इस समय दोनों दलोंमें परस्पर अविश्वासकी मात्रा कुछ अधिक बढ़ी हुई थी। विद्यार्थियोंके लिए वैदिक आश्रम तो सभा की ओरसे सन् १८६३में ही खुल चुका था, अब दयानन्द हाई स्कूल भी खोला गया। इसके संचालक मा० दुर्गाप्रसादजी रहे। परन्तु १८६८ई०में यह विद्यालय बन्द होगया। वस्तुतः सभाके

कार्यकर्त्ताओंका ध्यान ऋषि-प्रदर्शित आदर्श गुरुकुल शिक्षाप्रणाली की ओर आकर्षित हो रहा था।

४

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली

आर्यसमाजमें दो विभिन्न मनोवृत्तियोंका परिचय हम पहले दे चुके हैं। धर्मात्मा दलके विचारक कालेजकी पाठप्रणालीसे इसलिए असन्तुष्ट थे कि उसमें वैदिक साहित्य और प्राचीन विद्याओंको समुचित स्थान नहीं मिला था। इस दूसरे दलमें कुछ ऐसे विचारकभी थे जो आर्यसमाजको धर्मसभा और उसका काम केवल धर्मप्रचार मानते थे। ला० रलारामजी अपने 'वेदाध्ययन प्रेरक' पत्रमें इस विचारकी पुष्टि करते थे।

परन्तु धर्मात्मादलके नवयुवक आर्यसमाजके सिद्धान्तोंको कार्यरूपमें परिणत हुआ देखना चाहते थे, उनका आदर्श-प्रेम केवल वाणी तक ही सीमित नहीं था। जालन्धरके ला० मुंशीराम और ला० देवराज इनके अगुआ थे। उन्होंने आर्यसमाजमें प्रवेश करते ही न केवल विरादरीका भय ही छोड़ा अपितु स्त्रियोंमें पर्दा प्रथा, तथा अन्य कुप्रथाओंकेविरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया। कन्याओंके लिए स्कूल खोलनेमें ये ही दोनों नवयुवक अग्रणी थे।

इस आदर्शवादमें ला० मुन्शीरामजी अद्वितीय थे। कन्यामहाविद्यालयमें पुरुष-अध्यापकोंके प्रश्नपर इन्होंने उससे अपना संबंध

छोड दिया, यह उनकी आदर्श-निष्ठाका ही प्रमाण था। ला० मुन्शीराम जी ही कालेज शिक्षासे असन्तुष्ट दलके अग्रणी थे। परन्तु वे ऋषि द्वारा अपने ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट शिक्षाप्रणालीको न भूले थे। उनका विश्वास था कि आर्यसमाजको अपने इस आदर्शका परीक्षण करना चाहिए।

ऋषिदयानन्दने जिस शिक्षा प्रणालीका निर्देश किया है उसके अनुसार (१) शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए (२) लड़के-लड़की पृथक् २ गुरुकुलोंमें पढ़ें (३) कमसेकम २५ वर्ष तक बालक और १६ वर्ष तक बालिका विवाह न करें, (४) गुरुकुलमें राजा और रंक सबके बालकोंके साथ खान, पान आसन और वस्त्रमें समानताका व्यवहार हो। (५) गुरु-शिष्य पिता-पुत्रवत् रहें, (६) गुरुकुल बस्तीसे दूर एकान्तमें हों। (७) शिक्षामें वेदादि शास्त्रों को प्रमुख स्थान हो और उनके साथही राजभाषा तथा अन्य अर्वाचीन विद्याओंकी उपेक्षा न हो।

प्रारम्भमें आर्यसमाजने डी० ए० वी० स्कूल और वैदिक-आश्रमकी स्थापना इन्हीं उद्देश्योंको ध्यानमें रखकरकी, परन्तु उनसे किस प्रकार असन्तोष हुआ, इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। अब सन् १८९७ई०में ला० मुंशीरामजीने अपने 'सद्धर्म-प्रचारक'में आर्यसमाजका ध्यान इस कर्त्तव्यकी ओर दिलाया और आन्दोलन आरम्भ किया। नवम्बर सन् १८९८के आर्यप्रतिनिधि के अधिवेशनमें यह प्रस्ताव स्वीकृत भी होगया।

महात्माकी आहुति

प्रस्ताव स्वीकृत होजानेसे ही कुछ न होता। यदि ला० मुंशीराम

जी आगे न आते। उन्होंने इस धर्मयज्ञके लिए भिक्षाकी झोली उठाली और प्रतिज्ञाकीकि जबतक ३० सहस्र रुपया एकत्र न कर लूंगा, घरमें पैर नहीं रखूंगा। लगातार आठ महीने घूमकर उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूर्णकी, उनके अटल धर्म-प्रेम और हार्दिक विश्वासका यह ज्वलन्त प्रमाण था। अब से वे महात्मा कहलाने लगे।

इस महात्माने गुरुकुल शिक्षाप्रणालीकी सफलताके लिए क्या नहीं दिया? लोग कहते थेकि अपने हृदयके टुकड़ोंको अपनेसे पृथक् कर कौन गुरुओंको सौंपेगा? पहिले पहल स्वयं महात्माने अपने दो प्यारे पुत्र दिये। सन् १९०२ ई०में यह गुरुकुल हरिद्वारसे गंगाके पार गंगातटवर्ती कांगड़ी ग्राममें प्रतिष्ठित हुआ। यह ग्राम मुंशी अमनसिंहजीकी एकमात्र सम्पत्ति थी, जो उन्होंने महात्मा जीकी अटल श्रद्धापर न्योछावर करदी। महात्माजी हिमालयकी उपत्यकामें गंगातटपर ही गुरुकुल खोलना चाहते थे। इस आदर्श-वादीके कानोंमें 'उपह्वरे गिरीणां, संगमे च नदीनां धियाविप्रो अजायत' यजुर्वेदका यह मन्त्र गूंजता रहता था। अस्तु। इस प्रकार गुरुकुल खुला। और फिर खुलते ही गये। आर्यसमाजका सारा ध्यान इस ओर केन्द्रित हो गया। प्रचारके समय गुरुकुलके लिए भी धन संग्रह हो रहा था। संयुक्तप्रांतमें स्वामी दर्शनानन्दजी इस सन्देशको पहले ही ले जा चुके थे, सन् १८९५ई० में उन्होंने अपनी ओरसे एक गुरुकुल सिकन्दराबादमें खोलभी दिया था। संयुक्तप्रांतीय आर्यप्रतिनिधिसभानेभी सन् १८९९ई०में गुरुकुलके लिए २००००) की अपील प्रकाशितकी। इधर इस बातकाभी प्रयत्न

रहाकि पंजाब और संयुक्तप्रांतकी दोनों प्रतिनिधिसभायें एक ही गुरुकुलको चलावें। परन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। सन् १६०५ई०में सिकन्दराबादके गुरुकुलकोही सभाने अपने अधीन चलाना स्वीकार किया। सन् १६०७ईमें यह गुरुकुल फर्रुखाबाद ले जाया गया और फिर सन् १६११ई०में हाथरसके राजा साहब प्रसिद्ध श्रीमहेन्द्र प्रताप द्वारा प्रदत्त भूमिपर वृन्दावनके निकट स्थायी रूपसे आगया। संयुक्तप्रांतमें इस पद्धतिके पोषक और इसके लिए अनथक कार्यकर्त्ताओंमें पं० भगवान दीनजी, मुन्शी नारायणप्रसादजी (वर्तमान महात्मा नारायण स्वामीजी) स्वामी दर्शनानन्दजी आदि प्रसिद्ध नेताओंके नाम देख पड़ते हैं। महात्मा भगवानदीनजी न केवल गुरुकुल शिक्षा प्रणालीके अपितु संयुक्त-प्रांतीय प्रतिनिधि सभाके भी प्राण रूप थे। उन्होंने अपना आर्य-भास्कर प्रेस ' और अन्तमें अपना जीवनभी सभाको अर्पित कर दिया था।

आज गुरुकुल कांगड़ी और गुरुकुल वृन्दावन दोनों ही विश्वविद्यालय हैं। वृन्दावनके गुरुकुलमें वेद, वेदांग राजभाषा और कुछ अर्वाचीन विद्याओंके अतिरिक्त आयुर्वेदकी श्रेणियांभी हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी, सन् १६२४ की बाढ़में पुराने भवन विनष्ट हो जानेके कारण आज ज्वालापुरके निकट नहर तट पर नये भव्य भवनोंमें अवस्थित है। वेद, साधारण (arts) तथा आयुर्वेद महाविद्यालय पूर्णरूपसे विकसित हो चुके हैं। प्रतिनिधि सभा पंजाबने इसके संचालनके लिए पृथक् विद्या सभा बनाई हुई है। देशी-विदेशी अनेक शिक्षा-शास्त्रियोंने गुरुकुलकी कार्य-

प्रणाली और इसकी सफलताकी प्रशंसाकी है। पंजाबमें मुल्तान, कुरुक्षेत्र, देहली, मटिंडू झज्जर, कमालिया, रायकोट, पोठोहार आदि मध्यप्राँतमें हुशंगाबाद, बम्बईमें शाँताक्रुज, बिहारमें वैद्यनाथ धाम, दक्षिणमें कंगेरी आदि स्थानोंपर गुरुकुल खुल चुके हैं। इन गुरुकुलोंके स्नातकोंने आर्यसमाजके प्रचारके अतिरिक्त सार्वजनिक जीवनके प्रत्येक अङ्गपर अपनी छाप डाली है। वेदोंके विद्वान् व्याख्याता और लेखक, अध्यापक. प्रचारक, सेवक, हिन्दीसाहित्य-के लेखक और सम्पादक आदि प्रत्येक क्षेत्रमें गुरुकुलोंके स्नातक सफल हुए हैं।

एक और दृष्टिकोण

परन्तु आर्यसमाजके विद्वानोंका एक और दृष्टिकोण भी रहा। आचार्य गंगादत्तजी गुरुकुल कांगड़ीके प्रथम आचार्य थे। सन् १९०९ ई० में जब गुरुकुल कांगड़ीमें विद्यालयकी पढ़ाई समाप्त हुई और महाविद्यालयकी श्रेणियां आरम्भ हुईं तो उन्होंने अंग्रेजी शिक्षाका विरोध किया। वे ज्वालापुरमें स्थित महाविद्यालयके आचार्य बन गये। स्वामी दर्शनानन्दजी द्वारा स्थापित गुरुकुलोंमेंसे यह एक प्रसिद्ध महाविद्यालय है, जहांसे दर्शन-शास्त्रके उच्चकोटिके विद्वान् आर्यसमाजको मिले हैं। इस पद्धतिके पोषकोंका एक मतभेद शुल्क-विषयक भी है। प्रतिनिधि-सभाओंका विचार है कि जब तक राजाश्रय न मिले और राजाकी ओरसे शिक्षा अनिवार्य न हो तब तक भोजनाच्छादनका व्यय बालकके अभिभावकोंपर ही रहना चाहिए। इसीका नाम उन्होंने शुल्क रखा है। सिकन्दराबाद, बिरालसी, ज्वालापुर आदि महाविद्यालय इस

दृष्टिसे भी निशुल्क ही रहे। पं० गंगादत्तजी आचार्यके अतिरिक्त पं० तुलसीरामस्वामी, पं० भीमसेन शर्मा, पं० नरदेव शास्त्री आदि विद्वान् पंडित इस पद्धतिके सरक्षक और कार्यकर्ता रहे।

धीरे-धीरे सरकारी विश्वविद्यालयों की संस्कृत-उपाधि परीक्षाएँ दिलवाना ही इनका कार्य होगया है। आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार गुरुकुल शिक्षा-प्रणालीके समर्थकोंमें एक तीसरा दृष्टिकोण उत्पन्न होगया, जो अपने आपको इन सबसे अधिक आदर्शवादी कहता है।

शिक्षा सम्बन्धी अन्य कार्य

इस प्रकार आर्यसमाजमें प्रवृत्तिभेदसे शिक्षण सम्बन्धी विभिन्न परीक्षण चल रहे थे। पञ्जाबमें दयानन्द कालेज कमेटी स्थान स्थानपर अपने स्कूलोंका जाल बिछा रही थी, इसमें इस दलके स्थानीय आर्यसमाज सहायक थे। सन् १९१३ ई० में लाहौर के डी० ए० वी० कालेजके स्कूल विभागमें १७३७ और कालेज विभागमें ९०३ छात्र थे। दर्जी, इञ्जिनीयरिङ्ग और आयुर्वेदकी श्रेणियां भी खुल चुकी थीं।

पंजाब और संयुक्तप्रान्त तथा अन्य प्रान्तोंकी आर्यप्रतिनिधि सभाओं का ध्यान गुरुकुल शिक्षा प्रणालीपर केन्द्रित था। स्थानीय समाजोंकी ओरसे कन्या शिक्षणके लिए कन्या पाठशालाएँ चल रही थीं। जालन्धरका कन्या महाविद्यालय उन्नतिपर था, बड़ौदामें प्रसिद्ध मास्टर आत्मारामजीके उद्योगसे कन्या महाविद्यालय खुल चुका था। परन्तु आदर्शवादी महात्मा मुन्शीरामजी आदिका ध्यान कन्याओंके लिए गुरुकुलकी ओर केन्द्रित था। सन् १९१२

ई० में देहलीके सेठ रग्घूमलजीके दानसे देहलीमें कन्या गुरुकुल खुल गया। इसके लिए दान सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभाको मिला था, परन्तु उसने वह पञ्जाबकी आर्य प्रतिनिधि सभाको सौंप दिया और अन्तमें वह देहरादूनमें प्रतिष्ठित हुआ। आज यह गुरुकुल विश्वविद्यालयकी योजनाका ही एक अङ्ग है। श्रीमती विद्यावती सेठ इसकी प्रथम आचार्या हैं।

५

प्रचार-प्रवाह

इस कालके आरम्भमें आर्यसमाजके प्रचारका मुख्यस्वरूप व्याख्यानोंके अतिरिक्त लिखित और मौखिक शास्त्रार्थ थे। ऋषिने अपने जीवन कालमें जहां-तहां शास्त्रार्थ ही किये। ऋषिकी मृत्युके पश्चात् भी यह क्रम जारी रहा, अब आर्यपुरुष ही जहां-तहां कट्टर-पंथियोंसे उलझ जाते थे। अकेले संयुक्त प्रान्तमें ही सन् १८८२ ई० से सन् १८६६ ई० तक लगभग ३० शास्त्रार्थ हुए।

आर्यप्रतिनिधि सभाकी स्थापनाके पश्चात् आर्यसमाजकी शक्तिको बढ़ता देख सनातन धर्ममें भी आत्म-रक्षाकी भावना उत्पन्न हुई। स्थान-स्थानपर धर्म सभा, पण्डित सभा आदिकी स्थापना होने लगी—और काशीमें एक 'भारत धर्म महामण्डल' भी स्थापित हो गया। प्रारम्भमें इसके मन्त्री प्रसिद्ध वक्ता पं० दीनदयाल शर्मा के साथ पंजाबके आर्यसमाजियोंका संघर्ष हुआ। सन् १८८६ ई० को देहरादूनमें मृतकश्राद्धपर एक शास्त्रार्थ हुआ जो १४ मार्चसे १८ मार्च तक चलता रहा। प्रारम्भमें ये शास्त्रार्थ प्रचारकी दृष्टिसे ही

किए जाते थे, तमाशा या रौनक बढ़ानेके लिए नहीं, श्रोता भी प्रायः जिज्ञासु होते थे। इसलिए इस युगके नवयुवकों पर इनका प्रभाव अच्छा रहा।

विरोधियोंके प्रहार

आर्यसमाजको घर-घरमें घर करता देख और सत्यके प्रचार को किसी वैध उपायसे रोकनेका कोई साधन न देख विरोधी ओछी चालों पर भी उतर आए। परन्तु आर्यसमाजके सत्यने आर्य-समाजकी रक्षाकी और विरोधियोंकी यह चालभी आर्यसमाजके लिए लाभदायक बनी—आंचमें तपकर सोना और चमक उठा।

बहिष्कार

आर्यसमाज और आर्यपुरुषोंको सबसे पहला प्रहार अपने ही आर्य (हिन्दू) भाइयोंका सहना पड़ा। उस समय यह अवस्था हो रही थी कि घरमें कहीं बेटा आर्य बन रहा है तो कहीं भाई। बाप और बेटों और भाई-भाइयोंका यह संघर्ष प्रारम्भके आर्योंकी कष्ट सहनकी कसौटी था। कपूरथलाके म० कृपाराम अपनी कन्याका विवाह वैदिक रीतिसे करना चाहते थे, ला० मुंशीराम जी आर्यनेता सुनते ही उनकी सहायताको पहुंचे। वहां सनातनियों की ओरसे विरोध हुआ, पुलिसने सहायता देनेसे इन्कार कर दिया, स्वयं पण्डितजीकी माता और वरपक्षके लोग अड़ गये—परन्तु पण्डितजी अपने निश्चयपर अटल रहे और स्वयं विवाहमें ही सम्मिलित नहीं हुए। कन्याने नवग्रह पूजा नहीं की। नगीना (जि० बिजनौर-संयुक्तप्रान्त) आर्यसमाजके उपप्रधान म० नत्था-सिंह आर्यसमाजी होनेके कारण घरसे निकाले गए और उनके

सात वर्षके बालकको विष तक दिया गया—यह समाचार 'आर्य-समाचार'में प्रकाशित हुआ है।

यह कटुता यहां तक बढ़ी कि सन् १९०० ई० में रोपड़में रहितियोंकी शुद्धिके सिलसिलेमें रोपड़के आर्यसमाजियोंको बिरादरी से निकाल दिया गया। हिन्दुओंने सामाजिकोंसे सब प्रकारका सम्बन्ध विच्छेद कर दिया। आर्यसमाजके प्रधान पं० सोमनाथकी वृद्धा माताको कुंएका पानी न मिलनेके कारण प्राणतक देने पड़े। चिकित्सकने नहरका पानी इस रोगिणी वृद्धाके प्रतिकूल बताया, मातृभक्त सोमनाथ अपनी मांके लिए सनातनधर्मियोंसे समझौता करने लिए तय्यार हो गया, परन्तु वृद्धा माताने अपनी नश्वर देहके लिए उसे धर्म छोड़नेकी सलाह नहीं दी।

इससे पहले भी पं० गोपीनाथ अपने 'अखबार-इ-आम' और 'सनातनधर्म गजट' द्वारा आर्यसमाजको गाली दे रहे थे। आर्य-समाजके प्रति उनकी असभ्यता अश्लीलताकी सीमा तक पहुंच गई थी। सन् १८९९ तथा १९००ई०की होलियोंमें इस पत्रमें ऐसे उत्तेजनात्मक और असभ्य लेख निकले कि स्वयं सरकारने पं० गोपीनाथ पर अभियोग चलाकर उन्हें दण्ड दिया। रोपड़ आर्यसमाजके सभासदोंके बहिष्कारका आन्दोलनभी इनका चलाया हुआ था। बहिष्कारके कारण समाजने सरकारका दरवाजा खटखटाया—पं० गोपीनाथ आदिपर अभियोग चलाना पड़ा। अन्तमें उन्होंने क्षमा मांग ली।

अभियोग

पं० गोपीनाथने भी बदला लेना चाहा। म० मुन्शीरामजीका

पत्र 'सद्धर्मप्रचारक', अख़बार-इ-आम' और 'सनातनधर्म गज़ट' के असभ्य लेखोंकी कड़ी आलोचना करता था। सन् १९०१ई० में पं० गोपीनाथने म० मुन्शीरामपर अभियोग चलाया। यह अभियोग एप्रिलसे सितम्बर तक चला। यह अभियोग सनातनधर्म सभा और आर्यसमाजकी शक्तियोंका केन्द्र बन गया, अदालतमें ती - तीन हज़ारकी भीड़ लग जाती थी। इस अभियोगके निर्णयसे पं० गोपीनाथकी क़लई खुल गई। उसके आचार-व्यवहारका भंडाफोड़ हो गया। सब आर्यनेता साफ़ छूट गये। आर्यसमाजपर व्यर्थमें दोपारोप करनेकी प्रवृत्तिको धक्का लगा।

पं० लेखराम का बलिदान

आर्यप्रचारकोंपर घातक आक्रमणोंके शस्त्रको भी विरोधियोंने प्रारम्भसे ही आर्यसमाजके विरुद्ध प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था। आर्यसमाजके प्रवर्तक ऋषि दयानन्दपर कितने ही ऐसे आक्रमण हुए और अन्तमें वे जोधपुरमें किस प्रकार ऐसे षड्यंत्र के शिकार हुए इसका विस्तृत वर्णन हो चुका है। ६ मार्च सन् १८९७ ई० को आर्यसमाजके प्रसिद्ध महारथी, सच्चे 'आर्यपथिक' पं० लेखरामका एक मुसल्मानने धोखेसे बध कर दिया। पंडितजी पहले पुलिसमें नौकर थे। बचपनसे ही धर्म-जिज्ञासाकी आपके मनमें प्रबल भावना थी। उस समयके प्रसिद्ध सुधारक अलखधारी के लेखोंमें आपने ऋषि दयानन्दकी प्रशंसा पढ़ी, और ऋषिग्रन्थों का स्वाध्याय किया। सन् १८८० ई० में ये ऋषि-दर्शनकेलिये अजमेर गये। अब तो वे दयानन्दके सच्चे भक्त बन गये—नौकरीमें भी समाजकी चर्चा न छूटती थी। अन्तमें सन् १८८४ ई० में धर्म-

प्रचारकी लगनने नौकरी भी छुड़ादी। आप फ़ारसीके विद्वान् थे, कुरानका स्वाध्याय खूबकर चुके थे, इसलिये इस्लामके खंडनमें आप विशेष क्षमता रखते थे। लेख, भाषण और शास्त्रार्थ सभी प्रकारसे आप इस्लामका मुकाबला करते थे। ७ मार्च सन् १८९७ को एक कुरूप मुसलमान युवक धर्म-जिज्ञासा और शुद्धिके लिये इनके पास आया और वहीं रहने लगा। ६ मार्चको इसी धोखेबाज़ने मौका देख छुरी इनके पेटमें भोंक दी। परन्तु आर्य-समाज भीरु नहीं था। धर्मवीरके इस बलिदानने आर्यपुरुषोंको चैतन्य किया, दलकी भावनाको ठेस पहुंची और दोनों दलोंने मिलकर काम करनेका निश्चय किया। आगे चलकर मेलकी यह भावना तो स्थायी न रही परन्तु धर्म-प्रचारका उत्साह बढ़ता ही गया।

सन् १९०३ ई० में फरीदकोट स्टेशनके स्टेशनमास्टर पं० तुलसीरामका बध हुआ। पण्डितजीके प्रबन्धसे पं० हरनामसिंहके व्याख्यान नगरमें हुए थे। इन व्याख्यानोंमें सनातनधर्म और जैन सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया था, इससे आवेशमें आकर गोपी-राम नामक एक व्यक्तिने पं० तुलसीरामजीकी आंखोंमें मिर्चें डाल उनके पेटमें छुरी भोंक दी।

विद्रोह का आरोप

ऐसे आक्रमणोंके अतिरिक्त सबसे बड़ा आक्रमण राजनैतिक था। यों तो आर्यसमाजके प्रचारमें राजनीतिक बाधाएँ डालनेका प्रयत्न भी पुराना था। बनारसमें ऋषि दयानन्दका व्याख्यान रोक दिया गया था। मुसलमानोंने कई बार पं० लेखरामजीके व्या-

ख्यानोंको शांति भङ्गके बहानेसे रुकवाना चाहा। सन् १८६४ ई० में जि० सहारनपुरके तीतरों गांवमें एक विशेष स्थानपर आर्य-समाज मन्दिर बनाए जानेका विरोध किया गया. परन्तु इस समय तक सरकारी अधिकारियोंका रवैय्या आर्यसमाजके अनुकूल रहा।

आर्यसमाजके नेताओंने प्रारम्भसे ही आर्यसमाजका राजनीति में सीधा प्रवेश नहीं होने दिया। १२ नवम्बर सन १८६६ ई० को आर्यसमाज लाहौरकी अन्तरङ्ग सभामें नेशनल लीगकी एक चिट्ठी पेश होकर निर्णय हुआ कि "चूँ कि यह मामला पोलिटि-कल है और पोलिटिकल मामलातमें दखल देना समाजके उद्देश्यों से बाहर है, इसलिए यह समाज इस मामलेमें कुछ नहीं कर सकती।" परन्तु विपत्तियोंने आर्यसमाजको न केवल राजनैतिक अपितु राजद्रोही बतलाकर उसकी जड़ें तक उखेड़ देनेका प्रयत्न किया।

स्वामी आलाराम पहले आर्यसमाजके प्रचारक थे, पीछेसे सनातन-धर्मी होगए। इन्होंने कई बार भड़काने का प्रयत्न किया। अन्तमें इन्होंने एक पुस्तक लिखी, जिसमें स्वामीजीके ग्रन्थोंके उद्धरण देकर आर्यसमाजको राजद्रोही संस्था सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। सन् १६०२ ई० में स्वयं सरकारने इनपर मुक-दमा चलाया, इस मुकदमेके निर्णयसे आर्यसमाजकी स्थिति स्पष्ट होगई। मजिस्ट्रेट मि० हैरिसनने लिखा, "इन उद्धरणोंमें मैं कहीं भी विद्रोहकी उत्तेजनाका कोई चिन्ह नहीं पाता,...... दयानन्दने क्रियात्मक रूपसे यह स्वीकार किया है कि आधुनिक हिन्दुओंमें कुछ ऐसे स्वाभाविक दोष हैं जो उन्हें स्वयं राज्य करनेके अयोग्य

बनाते हैं। इस दयानन्दकी प्रेरणायें और प्रार्थनायें विदेशी राज्यके तुरन्त उलट देनेके लिए नहीं किन्तु इस प्रकारके सुधारके लिए हैं जो हिन्दुओंको शायद भविष्यमें स्वयं राज्य करनेके योग्य बना दें।.........इन लेखोंमें न शस्त्र ग्रहणकी कोई प्रेरणाकी गई हैं और न युद्धका कोई नाद ही बुलन्द किया गया है।" परन्तु विरोधी अपने प्रयत्नोंसे विरत नहीं हुए।

सन् १६०७ई०में कालेज दलके प्रसिद्ध महारथी ला० लाजपतरायजीको मांडले निर्वासित किया गया। बंग-भंगके कारण राजनैतिक आन्दोलन प्रगतिपर था। आर्यसमाज जैसी सुधरी समाजमें और इसके सभासदोंमें देशभक्तिकी भावना स्वाभाविक थी—यह कोई राजद्रोह नहीं था। परन्तु एक आर्यसमाजी युवक पर राजद्रोहका आरोप लगते ही विरोधियोंके मुंह खुल गए। १६ जून १६०७ई०के 'सिविल मिलेटरी गजट' में एक 'भारतीय'ने आर्यसमाजके विरुद्ध लेख लिखे। म० मुंशीराम और प्रो० (इस समय सर) गोकुलचन्द नारंगने इनका उत्तर दिया।

परन्तु विरोधियोंके लेखोंका प्रभाव यह हुआकि सरकारी अधिकारी आर्यसमाजियोंको संदेहकी दृष्टिसे देखने लगे। सिख रेजीमंटके लेखक मिलापचन्दको कर्त्तव्य परायण, सत्यप्रिय, परिश्रमी परन्तु साथ ही अधिकारियोंको उत्तर देनेमें निर्भीक होनेके कारण 'आर्यसमाजी' समझकर निकाल दिया गया। जिला करनालके तीन जेलदारोंमेंसे एक आयसमाजी था। उसकी डायरीमें लिख दिया गया कि 'वह जेलदार तो अच्छा है, परन्तु उसका निरीक्षण किया जाना चाहिए, क्योंकि वह आर्यसमाजी

है।" इस प्रकारकी अनेक घटनायें उस समयके आर्यसमाजियोंके प्रति सन्देहके वातावरणकी पुष्टि करती हैं। हैदराबादसे स्वामी नित्यानन्दजीको निर्वासित कर दिया गया। शाहजहांपुरके इन्द्र-जित और इन्दौर आर्यसमाजके प्रधानको आर्यसमाज न छोड़ने पर रियासतकी नौकरी छोड़नी पड़ी।

पटियाला-अभियोग

अन्तमें अक्तूबर सन् १६०६ई०में यह ज्वालामुखी जो भीतर ही भीतर धधक रहा था, प्रज्वलित हो उठा। पटियाला रियासतने एक साथ ८४ आर्यसभासदोंको राजद्रोहके मामलेमें गिरफ्तार कर लिया। कहते हैंकि पुलिसविभागके मुख्याधिकारी वार्बटनने अपना सेवाकाल बढ़वा लेनेके लिए ही यह जाल रचा था।

इस अभियोगके विरुद्ध आर्यसमाजने सारीशक्ति लगादी। यह वस्तुतः उसके जीवन-मरणका प्रश्न था। रियासतकी ओरसे मि० ग्रे और आर्यसमाजके सभासदोंकीओरसे ला० रोशनलाल, दीवान बदरीदास और म० मुन्शीराम पेश हुए। इस अभियोगके आधार स्वरूप जो पुस्तकें और पत्रिकायें पेश की गईं; सरकारी वकील तकने कहा कि इन्हें मंगाना कोई अपराध नहीं है। परन्तु वे केवल इस बातपर डटे रहे कि न्यायालयको घटनाओं पर नहीं उनकी प्रवृत्तियों पर ध्यान देना चाहिए।

१२ जनवरीको पंजाबके लाट साहबका एकपत्र पंजाबके पत्रोंमें प्रकाशित हुआ। यह पत्र लाहौर समाजके प्रधान मा० दुर्गाप्रसादके नाम था। इस पत्रमें घोषणा करदी गई कि सरकार आर्यसमाजको विद्रोही संस्था नहीं समझती और उसकी इच्छा

इस पर समुदायरूपमें मुकद्दमा चलानेकी नहीं है। इसके पश्चात् १६ जनवरीसे ही पटियाला सरकारके विश्वासी पुरुषोंने अभियुक्तों से मिल समझौतेकी बातचीत चलाई। अन्तमें केवल सम्भावनाओं के लिए दुःख प्रकट करनेपर मुकद्दमा उठा लिया गया। परन्तु केवल इसीलिएकि "हमारे राज्यमें ऐसे पुरुष नहीं रहने चाहिएँ जिनके विरुद्ध जराभी राजद्रोहका संदेह किया गया हो" उन्हें तुरन्त रियासत से निकाल दिया गया। कुछ समय बीतनेपर पटियाला निवासियोंके लिए यह आज्ञाभी लौटा ली गई। इससे स्पष्ट होगयाकि यह अभियोग सर्वथा निराधार था।

अभियुक्तोंने इस समय जो धीरता दिखलाई वह वर्णनीय है। एक सज्जनके घर इन्हीं दिनों प्रसव हुआ, देखरेख न होनेके कारण वह मर गया। एक अभियुक्तके बालककी आंखें जाती रहीं, एकके चचा और पत्नीकी मृत्यु होगई। परन्तु फिर भी वे भयभीत नहीं हुए; महात्मा मुन्शीराम जब मुकदमेकी पैरवीकेलिये पटियाला गये तो अभियुक्तोंने उन्हें संदेश भेजा कि आप हमारी नहीं अपने स्वास्थ्यकी चिन्ता कीजिये।

इस अभियोगके अभियुक्त ला० ज्वालाप्रसाद अन्तमें यू० पी० के चीफ इंजिनीयर पदसे रिटायर्ड हुए और आजकल हिन्दू विश्व-विद्यालयके प्रो वाइस चांसलर हैं; ला० नन्दलाल, ला० मुरारीलाल और म० लक्ष्मणदासने गुरुकुलकी अन्त तक सेवा की। लुधियाना समाजके प्रधान डा० बख्तावरसिंह और देहलीके प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता ला० नारायणदत्त ठेकेदार इसी धर्मयुद्ध के योद्धा हैं।

अभियोगकी समाप्तिपर महात्मा मुन्शीराम और आचार्य रामदेवने अंग्रेजीमें 'आर्यसमाज एन्ड इट्स डिट्रैक्टर्स' (Aryasamaj and its Detractors) नामकी पुस्तक लिखी। उस समय इस पुस्तककी चर्चा पार्लियामेन्ट तक पहुंची।

दूसरा अभियोग

पटियालामें ही दूसरा अभियोग म० रौनकराम और म० विश्वम्भरदत्तपर 'ख़ालसा पंथकी हकीकत' नामकी पुस्तकके कारण सन् १९१४ ई० में चला। २३ जूनको ये गिरफ्तार हुए और १० महीनेके पश्चात् निर्णय सुनाया गया। इस अभियोगमें भी आर्यसमाजने पूरी शक्तिसे अपने भाइयोंकी सहायताकर यह सिद्ध कर दिया कि कष्टमें आर्यजनता अपने सेवकोंको नहीं भूलती, उन्हें न्याय दिलानेका प्रयत्न करती है।

इस समयके प्रचारक

आर्यसमाजको इन चोटोंने कुन्दन बना दिया। निरीह और अनथक प्रचारक भी थे। यहां थोड़े से स्थानमें उन सबकी सेवाओंका उल्लेख करना कठिन है। स्वामी नित्यानन्दजी और विश्वेश्वरानन्दजी इन दिनों इन्दौर, बड़ौदा, उदयपुर, देवास आदि रजवाड़ोंके राजगुरु थे। संयुक्त प्रान्त और राजपूतानामें इनका दौरा लगता था। पं० लेखरामजीका उल्लेख हो चुका है। पं० कृपारामजीने स्वामी दर्शनानन्द बनकर सन् १९०३ से बड़े जोर से प्रचार कार्य किया। गुरुकुल तो पहले भी खोल चुके थे। अब लेख और शास्त्रोंकी धूम मचादी। पं० पूर्णानन्दजी अफ्रीका

पहुंचे। पं० आर्यमुनि, पं० तुलसीराम स्वामी, मा० आत्माराम, पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ आर्यसाहित्यकी सृष्टि कर रहे थे। आर्यमुसाफिर पं० लेखरामजीके पश्चात् उनका काम पं० वजीर-चन्द्रजी, स्वा० योगेन्द्रपालजी और पं० भोजदत्तजी आर्य-मुसाफिरने सम्भाला। जैनियों और सनातनियोंसे लेखबद्ध और मौखिक संवाद एवं शास्त्रार्थ करने वालोंमें पं० गणपति शर्मा, पं० आर्यमुनिजी, पं० राजाराम शास्त्री, पं० तुलसीराम शास्त्री और पं० मुसद्दीलालजीका नाम सुन पड़ता है। यह इस प्रकरणके आरम्भिक समयकी बात है। शताब्दि महोत्सवसे पहले देहलीके पं० रामचन्द्र देहलवी ईसाई-मुसलमानोंका संयत भाषामें खंडन एवं आर्य-सिद्धान्तोंके मंडनमें प्रसिद्ध हो रहे थे। पं० मुरारीलाल जीके सुपुत्र पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री भी शास्त्रार्थोंमें प्रसिद्ध हो रहे थे। वीतराग स्वामी सर्वदानन्दजी इन्हीं दिनों आर्यसमाजमें आये। पहले ये वेदान्ती साधु थे। एक भक्त आर्यसमाजीने रोगमें इनकी सेवा की और पीछेसे सत्यार्थप्रकाश भेंट किया। स्वामीजीने अपने सेवक भक्तकी इस भेंटको सप्रेम स्वीकार किया और इच्छा न रहते हुए भी पढ़ा। पढ़नेकी देर थी कि वे रंगमें रंग गये। इसी वर्ष मार्च सन् १९४१ ई० में उनका देहान्त हुआ है। आप सच्चे वीतराग सन्यासी और निर्लेप एवं निर्भीक प्रचारक थे। जिला अलीगढ़ (संयुक्तप्रान्त) में हरदुआगंजके निकट काली नदीके पुल पर आपका स्थापित एक साधु आश्रम है। आपको जब विश्राम करना होता था वहीं चले जाते थे।

सुविख्यात कथावाचक श्री स्वामी सत्यानन्दजी भी सन् १८९९

ई० में जैनगुरु पद छोड़ आर्यसमाजमें प्रविष्ट हुए। आपने आर्य-समाजमें भक्तिरस का खूब प्रचार किया है।

डा० चिरंजीव भारद्वाज आर्यसमाजमें एक विशेष लहरके समर्थक थे। वे धार्मिक कट्टरताके पक्षपाती थे। पर्दा एकदम हट जाय, आर्योंके विवाह आर्योंमें ही हों, शुद्ध व्यक्तियोंके साथ कोई भेदभाव न रहे—आदि बातोंका वे बड़ी प्रबलतासे प्रचार करते थे। शुद्ध होकर मियाँ अब्दुल गफूरसे 'धर्मपाल' बने नवयुवक पर एक दम विश्वास कर अपने घरमें आश्रय देना आपकी सत्य निष्ठाका उज्ज्वल उदाहरण है। आपने 'आर्यशिरोमणि सभा' स्थापित कर आर्य बिरादरी बनानेकी नींव डाली। परन्तु आपके विलायत चले जानेके कारण यह आन्दोलन जड़ न पकड़ सका।

दलितोद्धार और अस्पृश्यता निवारण

ऋषि दयानन्द ने जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गोंके विधानको अवैदिक सिद्ध कर आर्यजातिमें फैल रही छूता-छूतकी कुप्रथाके मूल पर कुठाराघात किया। शूद्रोंके हाथका बना भोजन ब्राह्मणादि त्रिवर्णके लिये विधान कर उन्होंने इनके उद्धार का बीड़ा उठाया—स्वयं भी उन्होंने एक नाईके प्रस्तुत किये भोजनको भरी सभा में स्वीकार कर अस्पृश्यता की कुप्रथा से दलित वर्गके उद्धारका क्रियात्मक सूत्रपात किया था। इस लिये प्रचारके इस अंगकी ओर भी कर्मनिष्ठ व्यक्तियों का ध्यान जाना स्वाभाविक था।

पंजाबमें मुजफ्फरगढ़ निवासी पं० गंगारामजीने सब से प्रथम ओड़ोंकी अस्पृश्यता दूर की। पंडितजी ने पहले स्वयं गायत्री का

पाठ कर उनके हाथका पानी पिया। फिर इसे व्यापक रूप दिया। मुलतानमें बिरादरीके डर से आर्यसमाजमन्दिर में तो शुद्धि नहीं होसकी, परन्तु सिविल सर्जन ला० जसवन्तरायके मकान पर ओड़ आर्य परिवारमें सम्मिलित हुए। यह सन् १८८८ ई० की बात है। सन् १८९३ ई० में माधोपुर (जि० गुरुदासपुर) में रहतियोंकी शुद्धि की गई।

सन् १८८९ में जालन्धरमें रहतियोंकी शुद्धिका आन्दोलन चला। जालन्धरमें तो यह शुद्धि न हो सकी, अन्तमें ३ जून सन् १९०० ई० को लाहौर समाजने ४० रहतियोंको शुद्ध किया। इसी वर्ष लायलपुर और रोपड़में रहतियोंकी शुद्धि हुई। डा० चिरंजीव भारद्वाजने बड़ौदा राज्यमें डेढ़ परिवारोंको आर्य जातिमें प्रविष्ट किया।

इसी प्रकार १९०९ में मुजफ्फरगढ़ जिलेके माहतम लोगों को और सन् १९११ में सिन्ध प्रान्तके खैरपुर नाथनशाहमें वशिष्ठ लोगों को यज्ञोपवीत दिया गया। गुरुदासपुरके डूमनोंकी शुद्धि प्रसिद्ध पं० रामभजदत्त चौधरी बी.ए. एल.एल.बी. के प्रयत्नसे हुई।

दलितोंके उद्धारका व्यापक आन्दोलन मेघोंके उद्धारके साथ आरंभ हुआ। यह अस्पृश्य जाति सियालकोट, गुरुदासपुर तथा गुजरात के जिलों और कश्मीर एवं जम्मू रियासतोंमें रहती थी। सन् १९०३ ई०के आरम्भमें स्यालकोट आर्यसमाजके संचालकोंने इनके उद्धारका संकल्प किया। मुखिया ला० गंगाराम बी.ए. एल.एल.बी. थे। २८ मार्चको २०० मेघ शुद्ध हुए। राजपूतोंने शुद्ध हुए मेघोंको लाठियोंसे पीटा, पुलिसने हस्तक्षेप भी नहीं किया। विपरीत इसके

मेघोंपर झूठे मुकदमे चलाये गये और अदालतने उन्हें ही दण्ड भी दे दिया, परन्तु आगे चलकर मेघ छूट गये और राजपूतोंको सजायें मिलीं।

आर्यसमाजने इन मेघोंके उद्धारका पूरा प्रयत्न किया। दस्तकारी स्कूल खोला। सन १९१२ ई० में 'मेघोद्धार सभा' पृथक् बनाकर उसके अधीन सारा काम कर दिया गया। मेघ बालकोंको उच्च शिक्षाके लिये गुरुकुल और स्कूलोंमें भी भेजा गया। फिर सरकारसे लिखापढ़ीकर सन् १९१७ ई० में खानेवाल स्टेशनके समीप 'आर्यनगर' बसानेकेलिये भूमि ली गई। धीरे-धीरे यह नगर बसाया गया। यहां समाज, पाठशाला, कन्या-पाठशाला, चिकित्सालय आदि सभी प्रबन्ध इस बस्तीके निवासियोंकेलिये हैं। अस्पृश्यता निवारणका यह कार्य इस कालमें विशेष रूपसे पंजाब प्रांतमें ही फैल सका।

अनाथालय

आर्यसमाजने अपनी जातिके अनाथ बालकोंकी रक्षाकी ओरभी विशेष ध्यान दिया। ऋषिके जीवनकालमें ही अजमेर और फिरोजपुरमें अनाथालय स्थापित हो चुके थे। सन् १९०७ में पं० गंगारामजीने मुजफ्फरगढ़में अनाथालय खोला। सन् १९१६ में उसकी एक शाखा लाहौर में खुली। सन् १९२७ में यही अनाथालय केन्द्रीय अनाथालय बन कर 'अनाथ संरक्षिणी सभा' के जो इसी वर्ष रजिस्टर्ड हुई थी, आधीन होगया। संयुक्तप्रान्तमें आगरा अनाथालय खूब प्रसिद्ध हुआ, यह सन् १९०४ से चल रहा है।

शुद्धि और संगठन

विधर्मियोंका आर्य धर्मकी ओर आकर्षण यों तो प्रारम्भ से ही था—जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, परन्तु मुसलमानों—विशेषतः किसी समय धर्मसे भ्रष्ट होकर मुसलमान बने व्यक्तियोंके प्रायश्चित्त अथवा शुद्धिका कार्य, आर्य-पथिक पं० लेखरामके बलिदानके पश्चात् खूब जोरसे आरम्भ हुआ। पं० धर्मभिक्षु और पं० भोजदत्तने इस कार्यमें ख्याति प्राप्त की। 'लेखराम स्मारक निधि'के व्ययसे पंजाब सभाने 'आर्य-मुसाफ़िर' प्रकाशित कर इसके लिये नियमपूर्वक आन्दोलन आरम्भ किया। आगरे से भी 'मुसाफ़िर' निकला। सन् १९०७ में बंथरा गांव (संयुक्तप्रान्त) में ३७५ नर-नारी शुद्ध हुए। सन् १९०९ में देहलीमें मि० डेकी नामके एक युरोपियनकी और लखनऊमें मिस रायसन नामक एक युरोपियन महिलाकी शुद्धि का समाचार मिलता है।

प्रारम्भमें उदारताकी इस उत्सुकतासे आर्यसमाजको हानि भी उठानी पड़ी। पात्रापात्रका विचार किए विना शुद्धि और शुद्ध हुए व्यक्तिको अनधिकृत प्रतिष्ठा देनेकी भावना इस उत्सुकताका ही परिणाम था। सन् १९०३ में गुंजरावालामें एक ऐसी ही शुद्धि हुई। यह शुद्धि एक मुसलमान ग्रेजुएट अब्दुलगफ़ूरखां की थी। यह ब्रह्मसमाज और देवसमाजमें भी घूम आया था। इसका नाम धर्मपाल रखा गया। प्रारम्भमें इसने तर्क-इस्लाम आदि अनेक सनसनी पैदा करने वाली पुस्तकें लिखीं—परन्तु अन्तमें आर्यसयाज पर भी बरस पड़ा।

हिन्दू संगठन

आर्यसमाजकी इस सारी प्रगतिका एक ही केन्द्र—आर्य जातिकी रक्षा था। जहां वह पौराणिक भक्तोंकी हानिकारक रूढ़ियोंको मिटाकर शुद्ध आर्य संस्कारोंको प्रचलित करना चाहता था, वहां विदेशी धर्म और संस्कृतिके दोष दिखाकर उनकी चकाचौंधसे आर्यजातिके नवयुवकोंकी रक्षा करना चाहता था। आर्यसमाजका शिक्षा प्रचार, लिखित और मौखिक प्रचार, दलितोद्धार, अस्पृश्यता-निवारण, अनाथ-रक्षा और शुद्धि आदि इस सारे कार्यक्रमका एक ही प्रयोजन 'आर्य संगठन' था। धीरे-धीरे यह आन्दोलन भारत और भारतके बाहर उपनिवेशोंमें बसे भारतीयोंमें भी फैलता गया।

इधर भारतकी राजनैतिक परिस्थिति परिवर्तित हो रही थी। राष्ट्रीय महासभा भारतीयोंके राजनीतिक अधिकारोंकेलिये निरन्तर संघर्ष कर रही थी। इसी समय युरोपका महायुद्ध छिड़ा। सभी वर्गोंके भारतीयोंने अपनी सरकारकी सहायता की। महात्मा गांधीने भी राष्ट्रीय महासभाको सहायताकी सलाह दी। परन्तु युद्ध समाप्तिके पश्चात् जिन राजनैतिक सुधारकोंका प्रस्ताव हुआ, राजनीतिक नेताओंकी उनसे संतुष्टि न हुई। असन्तोषको दबानेके लिये रॉलेट कानूनकी सृष्टि की गई। अब तो भारत विक्षुब्ध हो उठा। इसके विरोधमें संगठित आन्दोलन किया गया। इसी बीच जलियानवाला बाग गोलीकांड आदि घटनायें हो गईं।

इन दिनों महात्मा मुन्शीराम स्वामी श्रद्धानन्द बन चुके थे। वे गुरुकुलकी चिन्ताका भार अपने अनुगामियोंपर छोड़कर

विस्तृत क्षेत्रमें आर्यसमाज और वैदिक-धर्मके प्रचारका कार्य करने की धुनमें थे। सन् १९१९ ई० में अमृतसरमें कांग्रेस होनी थी। स्वामी श्रद्धानन्दजीने उस समयकी भयग्रस्त परिस्थितिमें स्वागताध्यक्षका पद ग्रहणकर आर्यसमाजियोंकी निर्भयताका परिचय दिया था। आर्यसमाजियोंमें व्यक्तिगत रूपसे राजनीतिक अधिकारोंकेलिये भी बलि चढ़ जानेकी भावना स्वाभाविक रूपसे विद्यमान थी ही। इसलिये जब गांधीजीने सत्याग्रह आरम्भ किया तो हजारों आर्यसमाजी इसमें कूद पड़े। इस सत्याग्रहमें मुसल्मान भी सम्मिलित थे। परन्तु मुसलमानोंका मेल स्वार्थमय था, वे टर्कीकी खिलाफतकी रक्षाकेलिए अंग्रेजोंसे लड़ रहे थे। मुस्तफा कमालपाशा द्वारा खिलाफतका अन्तकर देनेका निश्चय होते ही मुसलमान अपने वास्तविक रंगमें प्रकट हो गये। मद्रास प्रांतमें 'मोपला' मुसल्मानोंने "जिहाद" का झंडा खड़ा कर दिया। फिर मुल्तानमें दंगा होगया, मुलतानके पश्चात् सहारनपुर और कोहाट पर आपत्ति आई। हिन्दूजनताकी आंखें तो तब खुली जब मुसलमान नेताओंने एक स्वरसे अपने सहधर्मियोंकी पीठ ठोकी।

आर्यसमाजके नेता तो पहले ही संगठनका प्रचार कर रहे थे। अब सर्वसाधारण हिन्दू जनताकी आंखें भी खुल गईं। स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अमृतसर कांग्रेसके अवसर पर अस्पृश्यता निवारण को राष्ट्रीय महासभाकी योजनामें सम्मिलित करनेका प्रस्ताव किया था। परन्तु कोकनाडा कॉंग्रेसके सभापित-पद से मौ० मुहम्मद अलीने प्रस्ताव किया कि दलित जातियोंको हिन्दुओं

और मुसलमानोंमें आधा-आधा बांट दिया जाय। स्वामी श्रद्धानंद जी उसी समयसे कांग्रेससे निराश हो चुके थे। अब उन्होंने हिन्दू सभाको पुनरुज्जीवितकर हिन्दू संगठनका कार्य आरम्भ किया। परन्तु वहां विधवा विवाह, और अस्पृश्यता निवारणकी बात कोई सुनता ही न था। इधर ये दंगे फूट पड़े। आर्यनेताओंने इस समय अवसर देखकर स्थिर संगठनका सूत्र पात करना चाहा।

इसी हेतुसे सन् १९२३ ई० में आगरेमें 'हिन्दू-शुद्धिसभा' की स्थापना हुई और पीछे सार्वदेशिक सभाके आधीन अखिल भारतीय दलितोद्धार सभाकी स्थापनाकी गई। इसी हिन्दू संगठन के उत्साहके साथ २ पंजाबमें विद्यमान आर्यसमाजके दोनों दलों को एक करनेका प्रयत्न फिरसे स्वामीजीने किया, परन्तु इसमें वे सफल नहीं हुए। इसी समय स्वयं स्वामी श्रद्धानन्दजीने शास्त्रार्थों की असामयिकताका प्रश्न उठाकर आर्यसमाजोंको सलाह दी कि वे रचनात्मक कार्यकी ओर अधिक ध्यान दें।

स्वामी श्रद्धानन्दजी और उनके अनुयायी आर्यसमाजके प्रचार का फल यह हुआ कि हिन्दू कुछ २ सम्भलने लगे। मुसलमान इस प्रकार अपने पाथसे अपना शिकार निकलते देख क्रुद्ध हुए। साम्प्रदायिक संघर्षका कारण आर्यसमाज और इसके नेताओं विशेषतः स्वमी श्रद्धानन्दजी को बताया गया, स्वयं गांधीजी ने आर्यसमाजके प्रवर्तक, उनके सत्यार्थ प्रकाश और स्वामीजीकी कटु आलोचना की। आर्यसमाज इससे क्षुब्ध हो उठा। गांधीजी को उत्तर दिया गया, परन्तु वे विवादमें नहीं पड़े।

अन्तमें परिणाम यह हुआ कि स्वामी श्रद्धानन्दजी और

आर्यसमाजसे मुसलमान जनता कुछ भड़क गई। २३ दिसम्बर सन्२६ई० को एक मुसलमान इनसे रुग्ण अवस्थामें मिलने आया इन्होंने उसके लिए दरवाजा खुलवा दिया, उसे कुर्सी दी। पर वह तो विश्वासघातक निकला, प्यासके बहाने सेवकको बाहर भेज उसने इन पर गोली चलादी। रोग-शय्या पर पड़े तीन गोलियां अपने सीनेमें लिए श्रद्धानन्द लेखराम-लोककी ओर चल दिए।

स्वामीजीके इस बलिदानका हिन्दू जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'अखिल भारतीय श्रद्धानन्द स्मारक ट्रस्ट' के नामसे शुद्धि और संगठनका कार्य करनेके लिए अपीलकी गई जिसमें कई लाख जमा हुए। तबसे यह ट्रस्ट जहां आवश्यकता होती है हिन्दू जाति के संगठन और इसके मूल साधन अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धारका काम कर रहा है। ला० नारायणदत्तजी ठेकेदार नई दिल्ली और पं० धर्मवीर वेदालङ्कारने इस दलके मंत्री और व्यवस्थापकके रूपमें जनताकी अच्छी सेवा की है

अन्य विविध कार्य

सेवाकार्य

ऋषि दयानन्दकी प्रेरणासे सन १८७७ में स्थापित अनाथालय का उल्लेख हम पहले अध्यायोंमें कर चुके हैं। सन् १८९९-१९०० के अकालके समय ला० लाजपतराय आदि नेताओंके नेतृत्वमें आर्यसमाजने अनाथ-रक्षाका कार्य किया—२५० हिन्दू अनाथ बच्चे पंजाब लाये गये और चार अनाथालय नये खुले। अक्तूबर सन् १८९९ में राजपूताना, मध्यप्रान्त, काठियावाड़ और बम्बई

प्रान्तोंमें भी लाहौर आर्यसमाजने कार्य किया और १७०० अनाथों की रक्षा की। सन् १९०८ ई० में अकालके समय अन्न बांटने आदि का अन्य सहायता-कार्य भी किया। सन् १९०४ ई० में जब कांगड़ामें भूकम्प आया तो आर्यसमाजी सबसे अगुआ थे।

आर्य सामाजिक साहित्य

इस कालमें आर्यसमाजका जो साहित्य तैयार हुआ वह खंडन मंडनात्मक था। धर्मवीर पं० लेखरामजी, पं० आर्यमुनिजी, पं० आत्मारामजी अमृतसरी, पं० राजाराम शास्त्री, पं० तुलसीराम जी स्वामी, बा० गंगाप्रसादजी एम.ए., बा० घासीरामजी, आचार्य रामदेवजी, महात्मा मुन्शीरामजी आदि इस समयके प्रसिद्ध आर्य सामाजिक साहित्यके लेखक रहे। पं० तुलसीरामजीने सामवेद का भाष्य इन्हीं दिनों किया। मनुस्मृतिका भाषानुवाद भी आपने ही किया। भास्कर-प्रकाश द्वारा आपने सनातनी पंडितोंके आक्षेपोंका निराकरण किया। बा० गंगाप्रसादजीने अंग्रेजी भाषामें उपयोगी साहित्य लिखा।

समाचार पत्र

आर्य-प्रतिनिधि-सभा संयुक्त प्रान्तकी ओरसे 'आर्यमित्र' उर्दू में प्रकाशित होता था। सन् १९०० ई० से यह हिन्दीमें प्रकाशित होने लगा—धीरे-धीरे आर्यसमाजका प्रसिद्ध पत्र बन गया। पं० तुलसीरामजीने सन् १८९७ ई० में 'वेदप्रकाश' मासिक पत्र निकाला जो अपने सिद्धान्तों सम्बन्धी लेखोंकेलिये प्रसिद्ध रहा। पंजाबमें म० मुंशीरामजीका 'सद्धर्मप्रचारक' १म वैशाख सन् १९४६ (सन् १८८९ ई०) से चल रहा था। १ मार्च सन् १९०७

ई० से यह हिन्दीमें प्रकाशित होने लगा। म० कृष्णजी बी.ए. के 'प्रकाश' उर्दू-साप्ताहिकने भी जन्म लिया। इसी प्रकार मध्यप्रान्तमें 'आर्यसेवक' बिहारमें 'आर्यावर्त' और बम्बईमें 'आर्यप्रकाश' (गुजराती) आदि आर्य-समाचार-पत्र वैदिक-धर्मके प्रचारमें लगे हुए थे।

भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद्

इस कालके एक महत्वपूर्ण आन्दोलनका उल्लेख कर हम इस प्रकरणको समाप्त करदेंगे। यह आन्दोलन 'आर्यकुमार परिषद्' के नामसे विख्यात हुआ। इन दिनों शिक्षाकी ओर भारतीयोंकी रुचि बढ़ रही थी, इस क्षेत्रमें सरकारी प्रयत्न तो था ही, गैरसरकारी संस्थायें भी आगे बढ़ रही थीं। आर्यसमाज अपने जन्मकालसे ही इस क्षेत्रमें अग्रणी रहा, आर्यसमाजकी ओर से स्थान-स्थान पर गुरुकुल, स्कूल, कालिज और पाठशालायें खुल गईं। फिर भी दिन-दूने रात-चौगुने विस्तारसे बढ़ते इस क्षेत्र-पर एकाधिपत्य कर लेना आर्यसमाज जैसी सीमित शक्ति वाली संस्थाके लिए सम्भव नहीं था। हजारों नवयुवकों को सरकारी व दूसरे स्कूलों व कालेजोंमें शिक्षा लेनी पड़ती थी।

इन बिखरे हुए आर्यकुमारोंको संगठित कर उनमें वैदिकधर्म की शिक्षाओंका प्रचार करनेके लिए स्थान स्थान पर आर्यकुमार सभायें, और समस्त भारतकी एक केन्द्रीय 'भारतवर्षीयआर्यकुमार परिषद्' की स्थापनाकी गई। सन् १९०९ ई० में रावलपिंडीके आर्यकुमारोंने यह आंदोलन उठाया। प्रो० सुधाकर एम० ए० (वर्तमान मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली), श्री

बलभद्र, प्रो० सिद्धेश्वर एम० ए० इसके प्रमुख थे। इन्होंने एक संगठन तय्यार किया। स्वर्गीय डा० केशवदेव शास्त्रीने इसकी अध्यक्षता स्वीकार कर इनका उत्साह बढ़ाया। १६ अक्तूबर सन् १६०६ ई० को रावलपिंडीमें आर्यकुमारपरिषद्का प्रथम अधिवेशन हुआ। परिषद्के प्रथम सभापति डा० केशवदेव शास्त्री और प्रथम मंत्री श्री अलखमुरारी एम० ए०, एल० एल० बी० बने।

परिषद्का उद्देश्य नवयुवकोंको ईश्वर, वैदिक-धर्म और देशका सच्चा एवं क्रियाशील उपासक बनाना निश्चितहुआ था। इसके साधन स्थानीय कुमार सभाओंकी स्थापना, धार्मिक परीक्षाओंका संचालन, साहित्य प्रकाशन टूर्नामेन्टकी आयोजना आदि रहे हैं।

परिषद्को आर्यसमाजके नेताओंका पूरा सहयोग मिला है। इसके सभापतिका आसन म० हंसराजजी, म० मुन्शीरामजी, भाई परमानन्दजी, म० नारायणस्वामीजी, पं० इन्द्रजी, स्वामी सत्यानंदजी आदि प्रसिद्ध २ नेता स्वीकार करते रहे हैं। डा० युद्धवीरसिंह, कुंवर चांदकरण शारदा, मा० विश्वम्भदयाल एम.ए. एल.टी., प्रो० परमात्माशरण एम.ए., पं० सूर्यदेव शर्मा इसके उत्साही कार्यकर्ता रहे हैं। वर्तमानमें श्री राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री परिषद्के प्रधान और श्री मनुराम बी.ए. मंत्री हैं।

सन् १६२३ ई० से परिषद्की ओरसे वैदिक धर्म विशारद (तीन खंड) और सिद्धान्त शास्त्री परीक्षायें चलाई गईं। इन परीक्षाओंमें परिषद्को बहुत सफलता मिली। पहले इनकी

व्यवस्था पं० सूर्यदेव शर्माके अधीन रही। गत वर्षसे पं० देवव्रत धर्मेन्दु देहली, इनके व्यवस्थापक हैं। इस वर्षसे परीक्षाओंके क्रम और पाठविधिमें कुछ उपयोगी परिवर्तन भी कर दिया गया है। गत वर्ष सन् १९४० ई० में इन परीक्षाओंके १२५ केन्द्र थे और ३००० परीक्षार्थी सम्मिलित हुए। इससे इनकी लोकप्रियता एवं लाभका अनुमान हो सकता है।

परीक्षाओंके अतिरिक्त परिषद्की ओरसे मासिक पत्र भी प्रकाशित होता रहा है। टूर्नामेन्ट होता है, व्यायाम शालायें खुली हुई हैं। साप्ताहिक अधिवेशनोंमें विभिन्न विषयोंपर वाद-विवाद और संवाद भी होते हैं।

प्रश्न—

१ सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाकी स्थापनाका क्या प्रयोजन था ?

२ डी० ए० वी० स्कूलकी स्थापनाके पश्चात् मथुरामें मनाई गई श्रीमद्दयानंद जन्म शताब्दि तक आर्यसमाजने शिक्षाके संबंध में क्या-क्या कार्य किया ?

३ पटियाला दरबारकी ओरसे आर्यसमाजके सभासदों पर चलाये गये अभियोगका क्या स्वरूप था ? इसका परिणाम क्या रहा ?

सार्वदेशिक-सभा-काल

(संवत् १६८१ वि० से वर्तमान-काल तक)

—:*:—

१

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दि महोत्सव

स्वामी श्रद्धानन्दजीके बलिदानसे पूर्व सन् १६२४ ई० में ऋषि-जन्मको पूरे सौ वर्ष हो गये थे। ऋषिका जन्म धार्मिक जगत्‌में एक स्मरणीय घटना थी। संयुक्त प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाके प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री० मदनमोहन सेठके प्रस्तावपर ऋषिकी जन्मशताब्दि मनानेके विचारका आर्यजनताने स्वागत किया। आर्य-सार्वदेशिक-सभाके नेतृत्वमें यह महोत्सव १५ फर्वरीसे २१ फर्वरी सन् १६२५ ई० तक बड़े समारोहसे मनाया गया। सम्मेलनमें जो विविध संस्थायें सम्मिलित थीं, उसको देखकर हम इस समय तकके आर्यसमाजके विकासका अनुमान कर सकते हैं। यहां हम दयानन्दकालेज लाहौर और इसके अधीन व समकक्ष कालेजों व स्कूलोंके छात्र व अध्यापकोंको देखते हैं। कालेज विभागकी शिरोमणि सभा आर्य-प्रादेशिक सभा द्वारा स्थापित उपदेशक विद्यालय—दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालयको पाते हैं। गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल-वृन्दावन और उसकी शाखायें कन्यागुरुकुल आदि तो हैं ही। ज्वालापुर, सिकन्दराबाद, आदि निशुल्क संस्थाओंके छात्र भी आसन जमाये हैं। फीरोजपुर, आगरा और अनेकों स्थानोंके अनाथालयों के मंडलभी दल बांधकर आये हैं। कुमारसभाओं और युवकदलों

का उत्साहसागर तो उमड़ाही पड़ा है। भारतीय हिन्दूशुद्धि सभा आगरा, दलितोद्धार मंडल दिल्ली आदि संस्थाओं को पथभ्रष्टों दलितों और अस्पृश्योंके उद्धारके लिए कटिबद्ध पाते हैं। इस प्रकार सारे आर्य-जगतकी शक्ति एकत्र होगई थी।

इसकी विशेषतायें

इस महासम्मेलनमें लगभग ३ लाख यात्री सम्मिलित हुए। इन सब यात्रियोंका प्रबन्ध आर्यसमाजके स्वयंसेवकोंने किया, प्रबन्ध इतना उत्तम था कि एक भी दुर्घटना, चोरी आदिकी नहीं हुई। समस्त नगरके विस्तृत बाजारोंमें एक जगह भी सिगरेट आदि अप्रयोज्य वस्तुयें नहीं बिक सकतीं थीं। भोजन आदिका उत्तम प्रबन्ध था, किसी दुकान या होटलमें छूत-अछूतका किसी प्रकार भेद भाव नहीं था। स्त्रियोंके लिए पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी, कोई उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकता था। नगर कीर्तनके जुलूसमें २ लाखसे अधिक नर-नारियोंने भाग लिया, इसमें ५० हजारसे अधिक स्त्रियां ही थीं।

इस शानदार आर्य-महोत्सवसे आर्यसमाजकी संगठन शक्ति का परिचय मिला। सच तो यह है कि उन दिनों हिन्दू जाति पर जो आक्रमण हो रहे थे, उनसे रक्षाकी सामर्थ्य आर्यसमाजमें ही दृष्टि-गोचर होती थी—यह महोत्सव इसी बातका एक दिग्-दर्शक था।

विद्वत् परिषद् के कुछ निर्णय

महोत्सवके साथ एक विद्वत् परिषद् हुई, जिसने

महत्वपूर्ण निश्चय किए। ये निर्णय आर्यजगत्की मानसिक विचार-धाराके द्योतक हैं।

१ यह परिषत् निश्चय करती है कि विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्य सभाएँ बनाई जाएँ। विद्यार्यसभा संस्कृत और आर्य-भाषाकी पाठशालाओंकी पाठविधि नियत करे और अन्य शिक्षा संस्थाओं को संगठित करे। धर्मार्यसभा, उत्पन्न विवादास्पद सिद्धान्तों पर व्यवस्था दे। राजर्यसभा आर्योंके राजनैतिक अधिकारोंकी रक्षा करे और कौंसिलोंसे आवश्यक कानून बनवावे।

२ इस परिषद्ने अछूतोंको आर्यसमाजमें प्रवेशके समय गायत्री मन्त्रके साथ यज्ञोपवीत देना निश्चत किया।

३ आर्यसमाजमें प्रवेशकी पद्धति सबके लिए, चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो या अन्य, एक समान रखनेका निर्णय किया।

४ ४० वर्ष तकके विधुरोंको विधवाओंसे पुनर्विवाहकी आज्ञा दी।

५ आर्यसमाजोंके साप्ताहिक सत्संगोंकी पद्धतिका निश्चय किया, ताकि सब समाजोंमें एक समान पद्धति हो।

(६) 'ओ३म्' पताका का स्वरूप निश्चित किया।

(७) पर्वपद्धति प्रकाशित कर पर्वमनानेकी समानता स्थापित की।

इसके अतिरिक्त सभाने देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तरके लिए धन संग्रह किया। इस निधिमें ५० हजार रुपएसे अधिक धन एकत्र हुआ।

सार्वदेशिकसभाके आधीन प्रकाशन-विभाग भी स्थापित किया गया। इस महोत्सवकी सफलताने आर्यसमाजके साथ-साथ सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाकी कीर्तिको चार चांद लगा दिये और अबसे आर्यसार्वदेशिक सभा ही आर्यजगत्की गतिविधि की केन्द्र बन गई। इस समयसे इस सभाकी गतिविधि ही प्रायः आर्यसमाजका इतिहास है।

विचार धारा का रुख

इन निश्चयोंसे उस समयकी विचारधाराका रुख ज्ञात होसता है। प्रथम निश्चय एक दृष्टिसे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस निश्चय द्वारा यह निर्णय किया गया है कि आर्यसमाजके चौमुखे कार्यक्रमको अधिक संगठित और विशेषज्ञोंके हाथमें देनेके लिये विभिन्न क्षेत्रों के लिये उपयुक्त सभायें–धर्मार्यसभा विद्यार्यसभा और राजार्यसभा बनाई जायं।

पहले प्रकरणोंमें हम बता आये हैं कि शिक्षाके प्रश्नको लेकर किस प्रकार प्रवृत्ति भेदसे आर्य-समाजमें अनेक दल होते गये। इस प्रस्ताव द्वारा अब यह निश्चय किया गया है कि समस्त आर्यसमाज की एक विद्यार्यसभा हो जो आर्यसमाजकी समस्त शिक्षा संस्थाओंकी व्यवस्था करे। वस्तुतः इस समय तक विभिन्न प्रवृत्तिके आर्यनेता परस्पर अपनेसे विभिन्न प्रवृत्तिके महत्वका अनुभव करने लगे थे। अंग्रेजी शिक्षाको अधिक महत्व देने वाले कालेज पक्षवाले दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालयकी रचनाकर आर्यसमाजके लिए वेद-वेदांगोंके पंडितोंकी आवश्यकता अनुभव कर रहे थे। प्राचीन गुरुकुल-शिक्षा प्रणालीके समर्थक अनुभव

कर रहे थे कि समूह रूपसे सारे आर्यसमाजी अपनी संतानको गुरुकुलोंमें नहीं भेज सकते, गुरुकुलसे बाहर रहनेवाली आर्य-सन्ततिको सरकारी और ईसाई स्कूलोंके वातावरणसे बचाने तथा अन्य क्षेत्रोंमें लाभ उठानेके लिये सरकारी पद्धतिके शिक्षणा-लयोंकी भी आवश्यकता है। इसीलिये पंजाबकी आर्यप्रतिनिधि सभा स्थान स्थान पर आर्य स्कूलोंको उत्साहित करने लगी थी।

आर्यसमाजको केवलमात्र धर्मप्रचारसभा मान लेनेकी बात तो अब किसीको जंचती ही नहीं थी। आर्यसमाजको हिंदू जातिका रक्षक अनुभव किया जारहा था। "दयानन्दकी प्रेरणायें इस प्रकारके सुधारके लिये हैं जो हिन्दुओं को शायद भविष्यमें स्वयं राज्य करनेके योग्य बनादें" न्यायाधीश मि० हैरीसनके ये शब्द कितने सच हैं। आर्यसमाजके सर्वतोमुखी कार्यक्रमको देखकर ऋषिकी स्वराज्यकी भावना सम्भव दीख पड़ने लगती है। मथुरा-जन्म शताब्दिके समय उपरोक्त पहला प्रस्ताव इस बातका द्योतक है कि आर्यपुरुष अपने कार्यक्रम का लक्ष्य इसी प्रकारका अनुभव कर रहे थे।

२

संगठनको सुदृढ़ करनेका प्रयत्न

इस प्रयत्नमें सफल होनेके लिये पहली आवश्यकता इस बातकी थी कि आर्यसमाजके सब दल एक होकर एक केन्द्रसे कार्य करें। शताब्दिमहोत्सवमें समस्त आर्यसंस्थाओं और आर्य-

पुरुषोंके उत्साहने सार्वदेशिकआर्यप्रतिनिधिसभाको इस दिशामें आशान्वित कर दिया था।

मतभेदकी और बातें तो प्रायः मिट चुकी थीं। प्रश्न केवल मांस भक्षणका था। यह विवाद पुराना है। सन् १८९३ई०में महाराजा करनल सर प्रतापसिंहजीके हस्ताक्षर से आर्यसमाज जोधपुरने एक प्रस्ताव छपवाकर मांस भक्षणको वेदोक्त मानने न माननेके सम्बन्ध में आर्यसमाजोंकी सम्मति मांगी थी। इस प्रस्तावके पक्षमें केवल जोधपुर समाजकी सम्मति आई थी। इस प्रकार एक प्रकारसे वह प्रश्न वहीं समाप्त होगया। दल विभागका मुख्य कारण केवल प्रवृत्ति भेद या शिक्षा सम्बन्धी मतभेद माना जाने लगा।

सार्वदेशिक सभाने अब इसी प्रश्न पर आर्यप्रादेशिक सभाकी सम्मति मांगी। सभाने उत्तर दिया कि हमारी ९ अक्तूबर सन् १९१८ ई० की घोषणा इस प्रकार है:-

"मांस भक्षणके विषयमें हमारी सभाका सिद्धान्त वही रहा है और अबभी वही है जोकि स्वामी दयानन्दजी महाराज का है, अर्थात् मांस भक्षण वेदोंके अनुकूल नहीं है"। सार्वदेशिक-सभाने अपने २० अक्तूबर सन् १९३३ के प्रस्तावमें यह स्वीकार किया कि यदि प्रादेशिक सभा इस घोषणाको प्रस्तावके रूपमें स्वीकार करले तो वह सार्वदेशिक सभामें सम्मिलित होजाय।"

हैदराबादके धर्मयुद्धमें फिर ऐसा अवसर आया कि समस्त आर्यजगत्‌ने अपने पारस्परिक मतभेद भुलाकर कन्धेसे कन्धा भिड़ाकर विरोधका मुकाबिला किया। इस समय मेलमिलापकी

बात फिर उठाई गई। परन्तु प्रतीत होता है कि सभाको इसमें अभी तक सफलता नहीं मिली।

सभाएँ पारिभाषिक अर्थोंमें तो न मिल सकीं, परन्तु जैसाकि हम देखेंगे, सार्वदेशिक सभाकी योजनायें प्रायः सर्व-मान्य होती चली गईं। केन्द्रीय संगठन धीरे धीरे आर्यप्रमाणों को मान्य होरहा था।

अन्य कार्यवाही

शताब्दिसभाके निश्चयानुसार सभाने प्रो० रामदेवजी व स्वामी सत्यानन्दजी को ऋषिके जन्म स्थानका निर्णय करनेके लिए चुना। प्रो० रामदेवजीके इस अनुसन्धानके अनुसार टंकारा नगर ही ऋषिकी जन्म-भूमि निश्चय हुई। यहीं पर ७ से ११ फरवरी १९२६ तक एक जन्ममहोत्सव किया गया।

विदेशोंमें आर्यसमाजके प्रचारका संक्षिप्त इतिहास अन्यत्र किया गया है। सन् १९२४ ई० से यह कार्य सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभाकी देख रेखमें हो रहा है। मद्रास प्रान्तमें आर्य-प्रतिनिधि सभा या समाजका कोई संगठित कार्य नहीं हो सका था। सभाकी स्थापना कालसे ही वहां दो प्रचारक कार्य करते थे, परन्तु धनाभावके कारण वह कार्य स्थगित ही था। अब धन एकत्र हो जाने पर यह कार्य संगठित रूपसे होना आरम्भ हो गया।

विदेश प्रचारका श्री गणेश सन् १९३३ ई० में शिकागो (अमेरिका)के विश्वधर्म सम्मेलन के साथ आरम्भ हुआ। पण्डित अयोध्याप्रसाद बी० ए० रिसर्च स्कालरको सभाकी ओरसे वहां

भेजा गया, इन्होंने वहां अच्छी ख्याति प्राप्त की। इसी अवसर पर आपने वहां से ट्रीनीडाड, डच गायना, ब्रिटिश गायना आदि प्रदेशोंमें प्रचार किया। सन् १९३६ ई० में डच गायनाके सुरीनाम प्रदेशमें आर्यप्रतिनिधि सभा सुरीनाम स्थापित हुई, जिसका सम्बन्ध ३१ जनवरी १९३७ ई० को सभाके साथ हो गया।

प्रकाशन विभाग

सन् १९२४ ई० से ही सभाके आधीन एक प्रकाशन-विभाग स्थापित है। इस विभाग द्वारा उनके उच्च-कोटिके ग्रन्थ और ट्रेक्ट प्रकाशित हो चुके हैं।

३

सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन

आवश्यकता

हम पिछले प्रकरणमें दिखला चुके हैं कि सन् १९२०-२१ ई० से राष्ट्रीय महासभाने हिन्दू मुस्लिम एकताके लिए मुसल्मानोंको प्रसन्न करनेकी नीतिको अपनाया, सरकारकी नीति देरसे उस रुख पर चल रही थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू जाति पर विधर्मियोंके आक्रमणकी प्रवृत्ति बढ़ गई। इधर आर्य-समाजकी स्थापनाका मुख्य उद्देश्य आर्य (हिन्दू) जातिका सुधार और आर्यसंस्कृतिकी रक्षा ही था। हिन्दूसमाजमें प्ररूढ़ हानि-कारक रूढ़ियोंके खण्डनका अप्रिय कार्य भी आर्यसमाजने

इसी उद्देश्यसे हाथमें लिया था कि हिन्दू जाति अपने वास्तविक आर्यरूपको पहचाने और ऐसी अभेद्य और अकाट्य होजाय कि कोई भी बाह्य शक्ति इसका कुछ बिगाड़ न सके। आर्यसमाजकी इस दूरदर्शिताके कारणही उसे न केवल अपने हिन्दू भाइयोंके क्रोधका भी शिकार होना पड़ा, विधर्मी और विदेशी तो इसे जब—तब हड़प जाना ही चाहते रहे। विधर्मियोंके इस आक्रमणके समय सर्वसाधारण हिन्दू (आर्य) जनताने भी आर्यसमाजके संगठनकी योजना को पसन्द किया। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजीने सन् १९२०-२१ से ही संगठनके महत्वको अनुभव किया। शुद्धिसभा, हिन्दूसभा आदि की स्थापनाका उनका यही उद्देश्य था। अन्तिम दिनोंमें उन्होंने अनुभव किया था कि आर्यसमाजही एक ऐसी संस्था है, जो इस कार्यको भलीभाँति कर सकती है। आर्य जनताने भी इस परिस्थितिमें खंडनके कार्यको गौण रखना ही पसन्द किया; यद्यपि विरोधियोंके उत्तरमें शास्त्रार्थ आदि इस समय भी अवश्य होते रहे। सन् १९२५ ई० में शताब्दि महोत्सव की सफलता से आर्यसमाज की संगठन शक्तिका जो परिचय मिला उसके कारण आर्यसमाज को आत्मविश्वास भी पूरा होगया। यही कारण है कि सन् १९२७ ई० में स्वामी श्रद्धानन्दजीके कत्लके पश्चात् जो 'सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन' हुआ उसमें आर्यसमाज सारी आर्य (हिन्दू) जाति का प्रतिनिधित्व कर रहा था।

आर्यसमाजके नेता देख रहे थे कि मुसल्मानों द्वारा आर्योंके नृशंस वध हो रहे हैं और सरकार उपेक्षा वृत्ति धारण किये बैठी

है। आर्यसमाजके नगर-कीर्तनोंपर पाबंदियां लगती हैं। राष्ट्रीय महासभा मुसल्मानोंसे समझौताकर यहां तक बढ़ गई कि उसने मस्जिदके सन्मुख बाजा बजानेके प्रश्नको गोहत्याके साथ मिला दिया। इतने में ही समाचार आया कि आर्यसमाज बरेलीके साप्ताहिक अधिवेशनमें शहर कोतवाल और तहसीलदारने विघ्न डाला, वे जूते पहने वेदीपर चढ़ गये और निरपराध आर्यपुरुषों को गिरफ्तार कर लिया। सार्वदेशिक सभाने अपने २४ जुलाई सन् १९२७ ई० के अधिवेशनमें यह निश्चय किया कि ७ अगस्त को सारी हिन्दू (आर्य) जनताकी ओरसे इस दुर्घटनाके प्रतिवादमें सभाएँ हों। साथ ही अक्तूबरमें एक आर्य महा-सम्मेलनमें सारी परिस्थिति पर विचार किया जाय।

अक्तूबरमें यह महासम्मेलन म० हंसराजजीके सभापतित्वमें बड़े उत्साहसे मनाया गया। इस सम्मेलनमें जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए उनका एक ही उद्देश्य था---आर्यजातिकी रक्षा। प्रस्तावों द्वारा जहाँ कतिपय घटनाओंपर रोष, और कतिपय घटनाओंका प्रतिवाद किया गया वहां शुद्धि और शुद्ध व्यक्तियोंके साथ सामा-जिक समानतापर बल दिया गया।

परन्तु सबसे महत्वपूर्ण कार्य इस सम्मेलनने यह किया कि यह स्थायो आर्यरक्षा समिति और उसके आधीन आर्यवीर दलकी स्थापना करदी। यह समिति आर्यजातिके धार्मिक और सामाजिक अधिकारोंकी रक्षाकेलिये बनी।

आर्य रक्षा समिति

सन् १९२७ ई० में इसकी स्थापना हुई। काम मन्द गतिसे

चला। श्री महात्मा नारायण स्वामीजीने १५ अप्रैल सन् १६२८ ई० को गुरुकुल कांगड़ीके उत्सवपर यह घोषणाकी कि यदि १५ जुलाई तक आर्य वीरोंकी संख्या १० हजार न हुई तो मैं आर्य-समाज से सम्बन्ध विच्छेद कर लूंगा। इस घोषणाका बिजली-सा प्रभाव हुआ। जूनके अन्त तक ही आर्यवीरोंकी संख्या ११॥ हजार पहुंच गई। धन ३१ हजार हो गया।

सन् १६२६ के जनवरीमें आर्यरक्षा समिति और आर्यवीर दल दोनों नियमपूर्वक कार्य करने लगे।

परिणाम

इस समितिकी और दलकी स्थापनाका यह परिणाम हुआ कि कई मामले स्वयं ही सुलझ गये। भरतपुर रियासतने सन् १६२८के दिसम्बरके अन्तमें आर्यकुमार सम्मेलनकी आज्ञा नहीं दी थी, समिति के पत्रव्यवहारके पश्चात् वह मिल गई। मुरादाबाद समाजोंके नगरकीर्तन सन् १६२६ से पाबन्दीके कारण बन्द थे। सन् १६२६ में सरकार ने वहां सब जुलूसोंके लिये एकसे नियम बना कर समाजको संतुष्ट कर दिया। उन दिनों कांग्रेसके सत्याग्रहके सिलसिलेमें जाने वाले आर्य सत्याग्रहियोंको हवन आदिकी कठिनाइयां थीं—वे प्राय: हट गईं। आर्यसमाज के विरुद्ध कुछ आपत्तिजनक पुस्तकें प्रकाशित हुईं—समिति के लिखने पर वे जब्त कर ली गईं। इन्हीं दिनों एक दुर्घटना से समाजमें भारी आन्दोलन खड़ा हो गया। बहादुराबादमें २२ नवम्बर सन् १६३० को कप्तान गफ और उसके सिपाहियोंने ओ३म्‌की पताका उखाड़ दी और कुछ कागज़ जला दिये तथा समाजके उपमन्त्री

म० रामलालको बुरी तरह पीटा। इस पर देश-विदेश का आर्य-जगत् क्षुब्ध हो गया। समाचार पत्रों में खूब आन्दोलन मचा। दो बार असेम्बलीमें प्रश्नोत्तर हुए, परन्तु सरकार अपनी गलती माननेको तैयार नहीं हुई। अन्तमें म० रामलालजी की ओरसे हर्जानेका नोटिस सरकारको मिला। इस नोटिसके मिलते ही युक्तप्रान्तीय सरकारने आर्य प्रतिनिधिसभाके प्रधानसे समझौतेकी चर्चा चलाई। सार्वदेशिकसभा के प्रधानकी सलाहसे समझौतेकी शर्तें पेश करदी गईं। इनके अनुसार केप्टेन गफ़ ने क्षमा मांगी और हर्जाना दिया। सरकारकी ओरसे ओम्का झंडा समाजको दिया गया जो बहादुराबाद आर्यसमाज मन्दिर पर एक विशेष उत्सव करके लगा दिया गया।

पानीपत आर्यसमाजकी ओर से ऋषि बोधोत्सव पर संकीर्तन निकला करता था; सन् १९२६ से लाइसेन्स भी बिना शर्त लिया जाने लगा। परन्तु सन् १९३० में करनाल के डिप्टी कमिश्नरने शर्तें लगा दीं। इस पर आर्यजगत्में हलचल मच गई। आर्य-रक्षासमिति के प्रधान, मन्त्री व अन्य सदस्य अधिकारियोंसे मिले। अन्तमें समिति बिना शर्त संकीर्तन करनेके लिये डट गई। सत्याग्रहकी तैयारियां हो गईं। परन्तु अन्तमें सरकार मान गई और संकीर्तन बड़े समारोह से निकला।

इन्हीं दिनों हैदराबाद दक्षिणमें आर्यप्रचारकों पर पाबन्दीका सिलसिला शुरू हुआ। इन पाबन्दियोंके परिणामस्वरूप आर्य-समाजको किस प्रकार सत्याग्रह करना पड़ा इसका विस्तृत विवरण आगे किया गया है।

द्वितीय आर्यमहासम्मेलन बरेली

आर्य महासम्मेलनकी दूसरी बैठक बरेलीमें श्री महात्मा नारायण स्वामीजीके सभापतित्वमें हुई। इस सम्मेलनमें राजार्य-सभा तथा विद्यार्यसभाके निर्माण, कालेजों और उच्च शिक्षाकेन्द्रों में भली भांति तैयार किये व्याख्यान देनेके लिये 'दयानन्द-लैक्चर शिप' की स्थापना, ग्राम प्रचार, उत्सव प्रणालीमें सुधार की आवश्यकता, मुसलमानी रियासतोंमें आर्यसमाज पर लगी पाबन्दियोंका प्रतिवाद आदि प्रस्ताव स्वीकृत हुए। सार्वदेशिक सभाने सभी प्रस्तावों पर उचित कार्यवाही की।

४

तृतीय आर्यमहासम्मेलन, अजमेर

१४ अक्तूबर से २० अक्तूबर सन् १९३३ ई० तक अजमेरमें ऋषि-निर्वाण अर्धशताब्दी मनाई गई। यह महोत्सव भी आर्यसमाज की शानके अनुकूल था। देश-विदेश से नरनारी यहां एकत्र हुए।

इस अवसर पर लगभग १॥ दर्जन सम्मेलन हुए। इनमें आर्यमहोत्सव विशेष महत्व रखता है।

प्रगति का रुख

इस सम्मेलनके प्रस्तावोंको देखने से पता चलता है कि आर्यसमाज अब रचनात्मक कार्यकी ओर पग बढ़ा रहा था। पहले प्रस्तावमें सभासदोंके लिये सदाचारकी मर्यादाका पालन, मन्दिरोंमें धार्मिक वातावरण, पारस्परिक प्रेम और सद्भावनाकी वृद्धि,

आदि पर बल दिया गया। संस्थावृद्धिकी भावनाको अनुत्साहित किया गया। न्यायसभा स्थापित करनेका विचार किया गया। साथ ही आगामी ५ वर्षोंके लिये (१) ग्राम प्रचार (२) दलितोंकी सामाजिक उन्नति (३) शुद्धि (४) गुणकर्मानुसार विवाहका प्रचार (५) मादक द्रव्य निवारण और (६) अहिंसा-प्रचारका कार्यक्रम रखा गया। अहिंसा-प्रचारकी योजना सम्भवतः गांधीजीके अहिंसा पर विशेष बल देनेका परिणाम थी।

धर्मार्य सभा

विद्या सभा और राजार्य सभा तो अभी प्रस्ताव रूपमें ही ही रही। पंजाब प्रतिनिधि सभामें गुरुकुलकी स्थापनाके साथ-ही साथ विद्या सभाका आन्दोलन चला था। सन् १९२३ ई० में विद्या सभा बनानेका प्रस्ताव भी स्वीकृत हो चुका था। अब सन् १९३५ ई० में वह सभा बाकायदा कार्य करने लगी। आर्यप्रादेशिक सभाने भी पृथक् विद्या सभा बनाई। इसी प्रकार एक राजार्य सभा सन् १९३९ ई० से बन चुकी है। परन्तु इनका आर्यसमाजके केन्द्रीय संगठनसे सीधा सम्बन्ध नहीं है। सार्वदेशिक सभाने २७ जनवरी सन् १९२८ ई० को धर्मार्य सभाका निर्माण किया। इसके ४८ प्रतिनिधि-सभासद् और ३ सार्वदेशिक सभा द्वारा निर्वाचित विदुषी स्त्रियाँ सभासद् रखी गई।

इस सभाने संध्या, हवनकी पद्धतियोंमें सन्दिग्ध भागोंका निर्णय किया। १७ मार्च सन् १९३४ ई० को इसके अधीन हुए विद्वत् परिषद्के निर्णयके अनुसार इस सभाने यह निर्णय किया

कि "आर्यसमाजमें प्रविष्ट होने और रहनेकेलिए दस नियमोंके साथ उन सिद्धान्तोंका भी जो वेदोंके आधारपर ऋषि दयानन्दने अपने ग्रन्थोंमें लिखे हैं, मानना और उनपर आचरण करना आवश्यक है।"

२८ मार्च सन् १९३४ ई० को इस सभाने सदाचारकी मर्यादा भी नियत की। इसके अनुसार 'सन्ध्या आदि नित्यकर्म, शुद्ध-वृत्ति, वैदिक संस्कार, पतिव्रत तथा पत्नीव्रत आदि सदाचार हैं। व्यभिचार, मद्यादि मादक द्रव्यों और मांसादि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन, जुआ, चोरी, छलकपट, रिश्वत आदि दुराचार हैं।" इस सभाके प्रधान म० नारायण स्वामीजी और मंत्री श्री स्वामी स्वतंत्रतानन्द जी हैं।

उपनियमों का संशोधन

२६ जनवरी सन् १९२९ ई० को सभाके प्रधान म० नारायण स्वामीजीने अपने अनुभवके आधारपर सभाकी अंतरंग सभामें एक याददाश्त पेशकी कि 'आर्यसमाजकी वर्तमान प्रगतिको देखते हुए अनिवार्य सा होगया है कि उपनियमोंका इस प्रकारसे संशोधन किया जाय कि अधिकसे अधिक सदाचारी पुरुष ही आर्यसमाजके अगुवा और कार्यकर्ता बन सकें"। अन्तमें होते-होते २६ जनवरी १९३५ को आर्यसमाजके सदस्यों और सहायकों-के एक विशेष सम्मेलनमें संशोधित उपनियम स्वीकृत हुए। इन उपनियमोंमें धर्मार्य सभाके उपरिलिखित निर्णय मुख्य हैं।

आर्य विवाह क़ानून नं० १९ सन् १९३७ ई०

अन्तर्जातीय विवाह 'हिन्दू लॉ' के अनुसार अविहित होनेके

कारण आर्य विवाहोंके रास्तेमें भारी रुकावट थी। इसे देरसे अनुभव किया जा रहा था। मथुरा महोत्सवपर आर्य सम्मेलनमें इस बाधाको दूर करनेकेलिये धारा सभामें कानून बनवानेका प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था। तदनुसार सन् १९३० में इसे चौधरी मुख्तारसिंहजीने पेश भी किया—परन्तु वह जनमतके लिये वितरित कर दिया गया।

सन् १९३५ ई० में मध्यप्रान्तीय आ० प्र० सभाके प्रधान श्री घनश्यामसिंहजी गुप्तने इसे फिर पेश किया। आर्यजगत्‌का आन्दोलन भी साथ था। २० मार्च सन् १९३७ को यह बिल 'आर्योंकी इच्छानुसार' स्वीकृत होगया और कानूनके रूपमें लागू होगया।

कानून का स्वरूप निम्न है:—

आर्य समाजियों में प्रचलित अन्तर्जातीय विवाहों का जायज होना स्वीकार करने और तत्सम्बन्धी शंकाओं को दूर करने के लिए

चूंकि हिन्दुओंके आर्यसमाजी नामक वर्गके अन्तर्जातीय विवाहका जायज होना स्वीकार करने और तत्सम्बन्धी शंकाओं को दूर करने की जरूरत है इस लिए इसके जरिये नीचे लिखे मुताबिक कानून बनाया जाता है :—

छोटा नाम और विस्तार

१-(क) यह कानून "आर्यविवाह जायज बनाने वाला एक्ट सन् १९३७" कहलायेगा।

(ख) यह (एक्ट) तमाम ब्रिटिश हिन्दुस्तानमें जिसमें ब्रिटिश बलूचिस्तान और संथाल परगने भी शामिल हैं, लागू होगा और हिन्दुस्तानके अन्य भागोंमें सम्राट्‌की समस्त प्रजाको और ब्रिटिश

हिन्दुस्तानके बाहर और उस पारकी समस्त हिन्दुस्तानी प्रजाको भी लागू होगा।

आर्यसमाजियोंका विवाह नाजायज नहीं होगा

२ बावजूद हिन्दू रीति या रिवाज के किसी विरुद्ध विधानके (हिन्दू कानून या रीति रिवाजमें कोई विधान इसके विरुद्ध रहते हुए भी) विवाहके समय आर्यसमाजी कहने वाले व्यक्तियोंके बीचका कोईभी विवाह चाहे वह विवाह सम्बन्ध इस एक्टके लागू होनेके पूर्व हुआ हो, या तत्पश्चात् हुआ हो, केवल इसी बातके कारणकि वे लोग किसी समय हिन्दूसमाजके भिन्न भिन्न उपजातिके थे या कि उनमेंसे कोई एक या दोनोंही विवाहके पूर्व किसी समय हिन्दूधर्मके सिवाय किसी अन्य धर्मके थे नाजायज नहीं होगा या कभीभी नाजायज था (रहा हो) ऐसा नहीं माना जावेगा।"

इस प्रकार आंतरिक संगठनको शुद्ध एवं दृढ़ रखते हुए आर्यसमाजकी यह शिरोमणि सभा लगातार अपने कार्य-क्षेत्रका विस्तार कर रही है। इस सभाका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत हो चुका है कि इसकी प्रत्येक गतिविधिका यहां उल्लेख करना कठिन है। सन १९३८ ई० में हैदराबाद दक्षिणकी शक्तिशाली रियासतसे जो धर्मयुद्ध इस सभाके आधीन आर्यजगत्ने किया, उसका संक्षिप्त विवरण देकर इस प्रकरणको समाप्त करेंगे।

५

हैदराबाद में धर्म-युद्ध

आर्य जगत् की संगठन शक्ति का दूसरी बार परिचय सन् १९३९ में हुए हैदराबाद में रचे धर्मयुद्ध से मिला। लगभग ६ वर्ष से आर्यसमाज के प्रचार पर हैदराबाद रियासत की कड़ी दृष्टि थी। पं० रामचन्द्र देहलवी जी जैसे मिष्टभाषी, युक्ति-युक्त व्याख्याता महोपदेशक पर पहले तो वैमनस्योत्पादक भाषण देनेका अभियोग चलाया गया, फिर उसमें सफलता न होते देख मुकदमा उठाकर उनके प्रवेशपर पाबन्दी लगादी। इसके पश्चात् अनेक विद्वान् उपदेशकों पर पाबन्दियां लगती गईं। आर्य-मन्दिरों के निर्माण, यज्ञशाला व हवनकुण्ड बनाने, 'ओ३म् ध्वजा' लगाने तककी मनाई करदी गई। सार्वदेशिकसभाने निरन्तर ६ वर्ष तक वैध उपायों द्वारा इन पाबन्दियोंके हटाये जानेका प्रयत्न किया। परन्तु राज्य, सभाके इस आन्दोलनको राजनैतिक कहकर टालता रहा।

दिसम्बर सन् १९३८ ई० के अंतिम सप्ताहमें सभाकी ओरसे शोलापुरमें आर्य-सम्मेलनका विशेष अधिवेशन सत्याग्रहके सम्बन्ध में विचारके लिये हुआ। इस सम्मेलनने एक प्रस्ताव द्वारा हैदराबाद में अपने सहधर्मियों के धार्मिक और सामाजिक अधिकारोंकी घोषणा करते हुए निम्न दो मांगों पर इसे केन्द्रित किया। प्रथम सर्वसत्ता आर्य-जगत्के माननीय वयोवृद्ध नेता महात्मा नारायण स्वामीजी नियत हुए। मांगें ये थीं:—

(१) अन्य मतावलम्बियोंके भावोंका उचित सन्मान करते हुए वैदिकधर्म और संस्कृतिके प्रचार एवं अनुष्ठानकी पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय।

(२) नये आर्यसमाजोंकी स्थापना, नये आर्य मन्दिरों व हवन कुण्डोंके निर्माण अथवा पुराने मन्दिरोंकी मरम्मत करनेके लिये धर्म-विभाग (सीग़ये-अमूरए-मज़हबी) अथवा किसी अन्य विभागकी आज्ञा लेनेकी आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए।

सत्याग्रह से पहले २२ जनवरी सन् ३६ को सारे आर्य-जगत् में "हैदराबाद दिवस" सोत्साह मनाया गया। जनताने सोत्साह इसमें भाग लिया अपनी मांगें दुहराईं और इस कठिन संघर्षके लिये आर्यवीरोंकी सूचियां तय्यार कीं, और थैलियां एकत्र कीं।

३० जनवरी सन् १६३६ ई० को श्री नारायणस्वामीजी प्रथम 'सर्वेसर्वा' ने स्वयं कुछ स्वयंसेवकोंके साथ सत्याग्रह किया। इस वृद्ध सन्यासीके आत्मोत्सर्गने उत्साहकी लहरको द्विगुणित कर दिया। सत्याग्रहियोंका तांता बंध गया।

२० जुलाईको राज्यने कुछ सुधारोंकी घोषणाकी, उसमें जनताके धार्मिक अधिकारोंका भी उल्लेख था। परन्तु सभाने केवल इतने पर बस नहीं किया, कुछ भागोंके स्पष्टीकरणकी मांग की। इस स्पष्टीकरणसे यथा कथंचित् संतुष्ट होकर सभाने सम्प्रति सत्याग्रह बन्द कर देनेका ही निश्चय किया। सभाकी सम्मतिमें इस घोषणाके अनुसार समाज-मंदिर बनाने, नये आर्यसमाज बनाने और स्कूल खोलनेमें किसी प्रकारका विघ्न

नहीं होगा। इस प्रकार ८ अगस्त १६३६ को सत्याग्रह समाप्तिकी घोषणा नागपुरमें सार्वदेशिक सभाकी बैठकमें की गई।

इस सत्याग्रहमें समस्त आर्य सामाजिक जगत्का ही नहीं आर्य (हिन्दू) जनतामात्रका सहयोग था। सिख भाई भी जेल गये और दो-एक स्वतंत्र-वृत्ति मुसलमान युवकों तक ने आर्यसमाज के इस प्रयत्नमें भाग लिया। १० लाख रुपयेके लगभग धन व्यय हुआ और विभिन्न प्रान्तोंके १०७५६ सत्याग्रहियोंने जेल काटी। इसमें सत्याग्रहकेलिये तय्यार सत्याग्रहियोंकी गिनती नहीं की गई। समय-समय पर निम्नलिखित सर्वाधिकारी सत्याग्रहका संचालन करते रहे।

(१) म० नारायण स्वामीजी महाराज।
(२) कुंवर चांदकरणजी शारदा (अजमेर)।
(३) ला० खुशहालचन्दजी खुर्सन्द (पंजाब)।
(४) राजगुरु धुरेन्द्रजी शास्त्री (संयुक्त प्रांत)।
(५) पं० वेदव्रतजी वानप्रस्थी (बिहार)।
(६) म० कृष्णजी (पंजाब)।
(७) पं० ज्ञानेन्द्रजी सिद्धान्त-भूषण (गुजरात)।
(८) पं० विनायकरावजी विद्यालंकार (हैदराबाद राज्य)।

जेलमें सत्याग्रहियोंको जो कठिनाइयां भोगनी पड़ीं, उसका वर्णन कठिन है। इतनेसे ही अनुमान लगालेना चाहिये कि २८ सत्याग्रही विभिन्न दिन जेलोंमें और रुग्ण होकर जेलोंसे बाहर आकर मृत्युके ग्रास बने।

इस घटनाके समय आर्यसत्याग्रहियों और आर्य जनताका संयम और नियम पालन आदर्श रहा । यह भी आर्यसमाजकी अद्भुत संगठन शक्तिका एक प्रमाण था। पार्लियामेंटमें भी इस सत्याग्रहके सम्बन्धमें प्रश्नोत्तर हुए। सभाके प्रकाशन विभागने बड़ी सतर्कतासे प्रचार किया और समाचारपत्रोंने आन्दोलनका खूब साथ दिया।

सत्याग्रहके पश्चात् हैदराबाद राज्यमें सार्वदेशिक सभा और आर्यप्रादेशिक सभाकी ओरसे नियमपूर्वक रचनात्मक कार्य आरम्भ हो चुका है। १०० के लगभग प्रचारक और उपदेशक वहां कार्य कर रहे हैं। शोलापुरमें दयानन्द कालेज और हैदराबादमें केशवाराव हाईस्कूल स्थापित हो चुका है।

सभाका यह धर्मयुद्ध इसके शांत, गम्भीर प्रधान माननीय श्री घनश्यामसिंहजी गुप्त के नेतृत्व में हुआ। आप इस समय सभाके प्रधान थे। श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्दजी महाराज सत्याग्रह-शिविरों के अध्यक्ष थे।

इस प्रकार आर्यसमाज सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाकी देखरेखमें जहां अपने रचनात्मक कार्यका मार्ग बना रहा है वहां अपने मार्गकी कठिनाइयोंसे भी वीरतापूर्वक लोहा ले रहा है।

विविध

विदेशों में आर्यसमाज

देशके बाहर देशान्तरमें भी वैदिक धर्मके प्रचारकी भावना कोई नई बात नहीं है। आर्यसमाजकी आदि-नियमावलीके पहले नियम में ही उसका उद्देश्य 'सब मनुष्यों के हितार्थ आर्यसमाजका होना आवश्यक है' बताया गया है। आर्यसमाजका संगठन देश-विदेश सभी स्थानों पर वैदिकधर्मका प्रचार करनेके लिये किया गया है। ऋषि दयानन्दने अपने जीवनकाल में इसकेलिये प्रयत्न किया—उनके शिष्य श्यामजीकृष्ण वर्मा सन् १८७६ ई० में जब लन्दनमें पढ़ने गये तो उनको लिखे गये पत्रमें स्वामीजीने जहां उनकी दिनचर्या, लन्दनका वर्णन आदि जाननेकी उत्सुकता प्रकट की है वहां उन्हें बड़े प्रबल शब्दोंमें प्रेरणा की कि वे समय निकाल कर वहांके निवासियोंको वेदका संदेश सुनावें। इसके पश्चात् मृत्युसे कुछ दिन पहले ऋषिने परोपकारिणी सभाको अपना उत्तराधिकारी बनाया। इस समय लिखे गये स्वीकारपत्रमें विदेशप्रचारको परोपकारिणी सभाके सुपुर्द किया है। इससे यह स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द वैदिक शिक्षा के बीजों को 'यत्र तत्र सर्वत्र' बखेर देना चाहते थे, न जाने कहांकी भूमि कितनी उप-जाऊ निकल आवे। परन्तु वे इस दिशामें अभी कोई सफल कार्य नहीं कर सके थे।

ऋषिकी मृत्युके पश्चात् सन् १८८६ ई० में पंजाबके ला० लक्ष्मी-नारायणने पहले पहल लन्दनमें आर्यसमाजकी स्थापना की—इसका

उल्लेख हम पहले कर आये हैं। भारतीय विद्यार्थियोंके अतिरिक्त कतिपय विदेशी विद्वानोंने भी इस समय आर्यसमाजमें दिलचस्पी दिखाई। प्रतीत होता है कि भारतीय विद्यार्थियोंके वहां थोड़ी देर ही ठहरते रहनेके कारण यह कार्य सफल नहीं हो सका।

लन्दनमें भारतीयोंकी संख्या केवल छात्रोंकी होती थी। इधर अफ्रीका आदि ब्रिटिश उपनिवेशोंमें पहले पहल जो भारतीय गये वे कुली बन कर गये। सन् १८३४ में पहले पहल मौरिशस में सात हजार भारतीय इस अवस्थामें पहुंचे। ये दिन ऋषि दयनन्दके प्रचारसे पहलेके दिन थे। इस समयके भारतकी धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का दिग्दर्शन हम पहले प्रकरणमें करा चुके हैं। फिर कुली बन कर जाने वाले भारतीय तो प्राय: सबसे निचली श्रेणी के भारतीय थे, इनकी नैतिक, और सामाजिक अवस्था तो और भी गिरी हुई थी। इससेभी बढ़कर बात यह हुई कि समुद्रयात्रा करते ही इन पर से बिरादरीका रहा-सहा बन्धन भी हट गया।

उपनिवेशोंमें जाकर उन्होंने न केवल अपने सब धर्मकर्म ही छोड़ दिये अपितु अपने जातीय अभिमानको भूलकर अपने त्यो-हारों तकको वे भूल गये। भक्ष्याभक्ष्यकी तो कोई चिन्ता ही उन्हें नहीं थी, विवाहकी मर्यादाभी बिगड़ चुकी थी। मरने पर शवका संस्कार तक भूलकर उसे इसाई मुसलमानोंकी तरह गाड़ने लग गये थे। वहां वे 'कुली' पुकारे जाते थे। इनकी सन्तान वहींके ईसाईयोंके सम्पर्कमें आ ईसाको लक्ष्य बना चुकी थी। वे

अपने ही पूर्वज इन कुलियों के घृणित जीवनसे ऊबकर इसाई बन रहे थे। इसी समय दयानन्द का सन्देश वहाँ पहुँचा।

भारतमें आर्यसमाजके प्रचारके पश्चात् जो भारतीय विदेश गये, उनमें कोई-कोई आर्यसमाजी भी थे। ऋषिके इन्हीं अनुयायियों ने अपना कर्त्तव्य यहां भी पालन किया। सन् १८६६ ई० में मौरीशसमें प्रथम नम्बर बंगाल-पैदल सेना गई। इसके कुछ आर्यसमाजी सूबेदारोंने सत्यार्थप्रकाशकी प्रतियां बांटीं और यहींसे आर्यसमाजके विचारोंने भारतीयोंमें प्रवेश किया। ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीकामें जो भारतीय गये थे, वे प्रायः शिक्षित थे, और सरकारी अथवा रेलवे नौकरियों पर अधिष्ठित थे। इनमें आर्यसमाजी युवक भी थे। सन १६०३ ई० में ऐसे ही उत्साही युवकोंके उद्योगसे केनिया प्रान्तके नैरोबी नगरमें आर्यसमाजकी स्थापना हुई।

प्रचारक

पहले-पहल सन् १६०४ ई० में पं० पूर्णानन्दजी नैरोबी गये। सन् १६०५ ई० में भाई परमानन्दजी एम० ए० (आजकल एम० एल० ए०) २७ वर्षकी आयुमें दक्षिण अफ्रीकाके दबरुशाम स्थान पर पधारे। आप एक सच्चरित्र, दृढ़निश्चयी नवयुवक थे। धर्म प्रचारके प्रति आपका उत्साह अपूर्व था। आपने यहाँ 'हिन्दू सुधार सभा' स्थापित की। स्मरण रहे कि इन उपनिवेशोंके 'हिन्दू' (आर्य) यहाँ अभी आर्यसमाज या किसी और समाजके महत्वको नहीं समझ सकते थे—उन्हें सुधारके नाम पर ही इधर लाया गया। इसके पश्चात् सन् १६०६ ई० से लेकर स्वामी शङ्करा-

नन्दजी ने इन उपनिवेशोंमें खूब जोरका प्रचार किया। स्वामी भवानीदयालजी का जन्म दक्षिण अफ्रीकामें ही हुआ था। इन्होंने पहले हिन्दी प्रचारको अपनाया, और आर्य हिन्दी आश्रमकी स्थापना की। वैदिक संस्कार और शुद्धिका भी आपने प्रचार किया।

इस प्रकार धीरे २ आर्य संस्थाओं और स्वतन्त्र उपदेशकोंका ध्यान विदेशोंकी ओर आकर्षित हुआ। कई संस्थाओंने अपने लिये धन एकत्र करनेके लिये अपने उपदेशक भेजे। इन्हें भी वहाँ अच्छी सफलता मिली। मौरिशसमें डा० मणिलाल बैरिस्टर और डा० चिरंजीलाल भारद्वाज व उनकी पत्नीने वहीं के निवासी बनकर बहुत ठोस काम किया। इसी वर्ष जून में 'मौरिशास पत्रिका' भी प्रकाशित हुई। यह बात सन् १९११ ई० की है। इसके पश्चात् सन १९१६ ई० में स्वामी भवानीदयालजी ने दक्षिण अफ्रीकासे 'धर्मवीर' प्रकाशित किया। स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी (वर्तमान कार्यकर्ता प्रधान सार्वदेशिक सभा) ने इन्हीं दिनों इस उपनिवेशमें सफल प्रचार यात्रा की। आपने यहां आर्य-भाषा के प्रचार पर बल दिया। विवाहोंकी रजिस्ट्रीकेलिए जन्मसे अब्राह्मण आर्यसमाजियोंको रजिस्टर दिए जानेका आन्दोलन हुआ। नेत्र-कष्टके कारण आप देर तक विदेशमें न रह सके।

प्रचारके साथ-साथ पाठशालायें भी इन उपनिवेशोंमें स्थापित होती गईं। फिजीके सामाबूला में एक आर्यकन्या महाविद्यालय भी है। और इसी उपनिवेश में सन् १९२९ ई० से एक गुरुकुल भी सफलता पूर्वक चल रहा है। कन्या महाविद्यालयकी सफलता

का श्रेय पं० अमीचन्द्र विद्यालङ्कारको है और गुरुकुलकी सफलता श्री गोपेन्द्रनारायण के उद्योग से है।

इस प्रकार धीरे धीरे इन उपनिवेशोंमें वह सब कार्य होरहा है जो भारतवर्षमें होरहा है। अनाथालय, पाठशालायें, स्कूल, समाज मन्दिर सभी कुछ वहाँ हैं। आर्य प्रतिनिधि सभायें भी स्थापित होचुकी हैं। दक्षिणअफ्रीकाके नेटालमें नेटाल प्रतिनिधि सभा सन् १९२५ ई० में स्थापित हुई। इसकी ओर से दयानन्द जन्म शताब्दी भी सफलता पूर्वक मनाई गई। इसका सम्बन्ध सन् १९२७ ई० में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में हुआ।

मौरिशसमें सन १९१८ ई० में ही आर्य-परोपकारिणी सभाके नामसे केन्द्रीय सभाकी स्थापना होगई थी। यहां की सरकारने उस समय आर्यप्रतिनिधि सभाके नामसे रजिस्टरी स्वीकार नहीं की थी। अन्तमें सन् १९२९ ई० में आर्यप्रतिनिधि सभाके नामसे ही इसकी रजिस्टरी हुई और सन् १९३८ ई० में सार्वदेशिक सभा से उसका सम्बन्ध होगया। फिजीमें सन् १९१६ ई० में आर्यप्रतिनिधि सभाकी स्थापना हुई जिसका सम्बन्ध सन् १९२८ ई० में सार्वदेशिक सभा देहलीसे हुआ। इस सभाकी ओरसे 'वैदिक सन्देश' प्रकाशित होता है।

उत्तगायनाके सुरीनाम, सेफेरी, ब्रिटिश गायना, ट्रीनीडाड, आदिमें भी इसी प्रकार आर्यसमाजोंकी स्थापना हुई है। गत महायुद्धमें (सन् १९१४ ई० में) भारतीय सेनाएँ ईराकमें गईं। इन सेनाओंके साथ जानेवाले भारतीयोंने बगदादमें भी आर्य-

समाज की स्थापना की। सन् १६१६ ई० में स्थापित इस आर्यसमाज की रजिस्टरी सन् १६२२ ई० में सरकार द्वारा हो चुकी है।

श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दि (सन् १६२५ ई०) से सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाका ध्यान विदेश प्रचारकी ओर गया है। परन्तु सन् १६४० ई० की इस सभाकी रिपोर्टमें हम यह पाते हैं कि उचित उपदेशकोंके अभावमें इस वर्ष यह कार्य नहीं हो सका। 'विदेशोंमें आर्यसमाज' पुस्तकमें जो सार्वदेशिक सभाकी ओरसे सन् १६३३ ई० में प्रकाशित हुई है—प्रचारकोंके सम्बन्धमें लिखा है—"विदेशोंमें गये उपदेशक चार भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं—(१) धन और प्रचारकी भावनायुक्त, (२) भ्रमण और प्रचारकी भावनायुक्त, (३) चन्दा एकत्र करने और प्रचारकी भावनासे युक्त, (४) केवल शुद्ध प्रचारकी भावनासे युक्त।" इस अन्तिम शुद्ध प्रचारकी भावनासे गये उपदेशकोंकी संख्या न्यून होनेके कारण ही आर्यसमाजको वह सफलता नहीं मिली जो बौद्ध तथा रामकृष्ण परमहंस सङ्घके उपदेशकोंको मिली है।

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा सब सभाओंकी केन्द्रीय प्रतिनिधि सभा है, वह इस प्रयत्नमें हैं कि सच्ची लगनके उपदेशक उसका प्रमाण-पत्र लेकर ही विदेशोंमें प्रचार करें और आर्यसमाज एवं वैदिक सभ्यता का नाम उज्ज्वल करें।

वर्तमान संगठन

आर्यसमाजका वर्तमान संगठन इस प्रकार है :—

[१] दस नियमोंको मानने और उपनियमोंके अनुसार ऋषि दयानन्द द्वारा अपने ग्रन्थोंमें प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तोंको मानने व सदाचारकी मर्यादा पालनेवाला कोई भी १८ वर्षका व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) आर्यसमाजका प्रारम्भिक सभासद् बन सकता है।

[२] ऐसे कमसे कम १० व्यक्तियोंसे एक स्थानीय आर्य-समाज बनता है।

[३] प्रत्येक ऐसा आर्यसमाज अपने १० सभासदोंमें से कम से कम एक प्रतिनिधि अपने प्रान्तकी प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाका सदस्य चुन सकता है। इस चुनावके नियम प्रान्तोंमें थोड़े बहुत भिन्न हैं।

[४] इन प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओंके प्रतिनिधि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभाके सदस्य होते हैं। इस प्रकार सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा सब आर्यसमाजोंका प्रतिनिधित्व करती है।

इस समय इस सभा में निम्न प्रान्तों की प्रतिनिधि सभायें सम्मिलित हैं—

(१) पंजाब (२) संयुक्त प्रान्त (३) राजपूताना व मालवा (४) सिन्ध (५) बम्बई (६) मद्रास (७) निजाम राज्य (८) मध्य-प्रदेश व विदर्भ (९) बिहार (१०) बंगाल व आसाम (११) पूर्वी अफ्रीका (१२) मौरिशस (१३) सुरीनाम (डचगायना)।

ब्रह्मा प्रदेश और प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, सिन्ध व बलोचिस्तान इस केन्द्रीय संगठनमें सम्मिलित नहीं हैं।

[५] बम्बईमें बने प्रारम्भिक नियमोंमें से २८वां नियममें नियमोंके घटाने-बढ़ानेके लिए सर्वश्रेष्ठ सभासदोंकी सलाह करना आवश्यक बतलाया गया है। सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाने उपनियमोंका परिवर्तन करनेके लिए सब आर्यसमाजोंके प्रतिनिधियोंकी सम्मति ली थी। इस परिवर्तनमें सभाको ६ वर्ष लगे।

आर्य-प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब, सिन्ध व बिलोचिस्तान, लाहौर

सन् १८९२ ई० में पंजाब में उत्पन्न मत भेद के कारण डी० ए० वी० कालेज कमेटी के कार्यकर्त्ता पृथक् २ सभाजों को संगठित कर आर्यसमाज का कार्य करते रहे।

लाहौर में अनारकली आर्यसाज पृथक् समाज बन गया, इसके पश्चात् पजाब के अनेक नगरों और कस्बों में आर्यसमाज बनते गये। सन् १९१७ ई० के नवम्बर मास में इन समाजों के नियमपूर्वक चुने हुए आर्यप्रतिनिधियोंकी सभाका पहला अधिवेशन लाहौरमें हुआ। यह प्रतिनिधिसभा, आर्य-प्रादेशिक प्रतिनिधिसभा पंजाब, सिन्ध और बलोचिस्तान कहलाई।

स्कूलों और कालेजों द्वारा शिक्षा क्षेत्र में कार्य करने के अतिरिक्त इस सभाने दैवी विपत्तियोंमें आर्यजातिकी रक्षाके कार्य को विशेषरूपसे अपनाया है। इसी कारण इसका कार्य क्षेत्र

किसी प्रान्त विशेषमें सीमित न रहकर अखिल भारतीय बनगया है। सन् १८६७ ई० के मध्यभारतके भयंकर अकालमें पहले-पहल सभा कार्य क्षेत्रमें उतरी। इस समय अनाथ-हिन्दू बालकोंकी रक्षाका कार्य किया गया। फिर बीकानेरके अकाल, कांगड़ाके भूकम्प, गढ़वाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, जम्मू रियासत, आदि के अकालोंमें अन्न, वस्त्र आदि बांटनेका कार्य भी किया गया। मुलतान, कोहाट और मलाबारके हिन्दू-मुस्लिम दङ्गोंमें हिन्दुओंकी रक्षाका कार्यभी सभाने किया। मलाबार को तो स्थायी कार्यक्षेत्र बनाया गया और वहांकी अस्पृश्यताको दूर करनेके लिये सभाने अनथक कार्य किया।

इसके पश्चात्के दुर्भिक्ष, भूकम्प आदि दैवी आपत्तियों में तो आर्यसमाज की विभिन्न संस्थाओंके अतिरिक्त अन्य सार्वजनिक संस्थाओंने भी अपना हाथ बटाया है।

यह सभा आजभी अपने ढंगसे आर्यसमाजका नाम उज्ज्वल कर रही है। दलितोद्धार इसके प्रचारका एक विशेष अङ्ग है। इस दिशामें दयानन्द दलितोद्धार-मण्डल होशियारपुर व दयानन्द मुक्ति-फौज होशियारपुर आदि संस्थायें सराहनीय कार्य कर रही हैं।

वैदिक-धर्म-प्रचार की वेदी पर
बलि होने वाले आर्य-वीर

आर्यसमाज द्वारा अनुमोदित वैदिक-सिद्धान्तोंके प्रचारमें आर्य-भाइयों और नेताओं ने समय-समय पर अनेक कष्ट उठाये हैं। इसके प्रवर्तक महर्षि दयानन्द स्वयं एक षड्यन्त्र का शिकार हुए। विरोधियोंने नाना-शस्त्रोंका प्रयोग कर इन्हें कर्त्तव्यच्युत करनेका प्रयत्न किया है। यहां हम यह तालिका केवल उन आर्य-वीरों की दे रहे हैं जिन्होंने इस प्रकार विरोधियोंके क्रोधका शिकारहो अपना नश्वरदेह छोड़ा और अपनी कीर्ति अमर कर गये। इस लम्बी तालिकासे पता चलता है कि विरोधियोंकी दृष्टि से अति भीषण, पर ओछे शस्त्रोंने भी आर्यसमाजको कभी भयभीत नहीं किया।

१. पं० लेखरामजी 'आर्यमुसाफिर' ६ मार्च सन् १८९७
२. श्री०स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज २३ दिसम्बर १९२६
३. पं० तुलसीरामजी सन् १९०३ ई०

इनका उल्लेख इतिहास में यथास्थान किया जा चुका है।

४. म० रामचन्द्रजी २० जनवरी सन् १९२३ ई०
५. म० राजपालजी ६ अप्रैल १९२९
६. पं० नाथूरामजी २० सितम्बर १९३४

म० रामचन्द्र जी, खजाञ्ची दलितोद्धारके कार्यमें अनथक सेवा करनेवाले व्यक्ति थे। इससे राजपूत लोग इनके विरोधी

होगये। १४ जनवरी सन् १९२३ ई० को इन्होंने महाशय जीको लाठियोंसे इतना पीटा कि हस्पतालमें पहुँकर २० जनवरीको उनका देहान्त हो गया। बलिदानके स्थान बुटहरापर इनकी स्मृतिमें प्रतिवर्ष वीर मेला लगता है।

श्रीराजपालजी लाहौरके और पं० नाथूरामजी सिन्धके निर्भीक आर्य-प्रकाशक थे। विरोधियोंके उत्तरमें आर्य-साहित्य प्रकाशित करते थे। महाशयजी की 'रंगीला रसूल' पर मुकदमा चला। मुकदमे में वे छूटभी गये। परन्तु विरोधियोंके क्रोधसे न बचा सके। पं० नाथूरामजी का वध मुकदमेके दौरानमें अदालतमें ही किया गया।

७. स० गण्डासिंह (जि० लुधियाना) ११ मई सन १९३० को सिखों के क्रोधके शिकार हुए।

८. ला० पालामाल (कसूर) ९. ला० लुडिदाराम वकील (कैम्बलपुर) १०. म०नानकचन्द देहली ११. म०खांडेराव,(भड़ौच, ५ मार्च १९३०) १२. श्री० पुरुषोत्तमशाह वकील (गोधरा, १८ सितंबर १९२८ ई०) १३. श्री नारायणजीवन (बिहार) १४. श्री भैरोंसिंह (आबूरोड़ सन् १९३०) १५. श्री० जयराम (जोधपुर) १६. श्री० नेवदराम १७. श्री० नारामल और श्री० नरपतसिंह (मध्य प्रान्त) १८. देवकीनन्दन (कैम्बलपुर) १९. श्री० आयाराम व उनकी पत्नी २०. श्रीमती भागवती (कालूर जि० मियांवाली) इसी प्रकार धर्मान्ध मुसलमानों के क्रोधके शिकार हुए। २१. इन्दौरके श्री० मेवराज अछूतोद्धारके कार्यमें विशेष उत्साहसे कार्य करते थे। ७ अप्रैल १९२९ को उनका वहां नृशंस बध हुआ।

हैदराबाद-धर्म युद्ध में
हुतात्मा आर्य-वीर

रियासत हैदराबादके सत्याग्रहका उल्लेख यथास्थान हो चुका है। इस सत्याग्रहमें निम्न आर्य-वीरों की जेलोंमें या जेलसे रुग्ण होकर छूटनेके पश्चात् मृत्यु हुई। *इस चिन्हसे अङ्कित वीरोंकी मृत्यु जेलसे छूटनेके पश्चात् हुई।

क्रम संख्या	नाम	निवास स्थान	मृत्युस्थान	तारीख
१.	पं० श्यामलालजी	उद्गीर	बीदर	१६-१२-३८
२.	श्री परमानन्दजी	हरिद्वार	हैदराबाद	१-४ ३६
३,	वेंकटरावजी	निजाम राज्य	निजामाबाद	८-४-३६
४.	स्वामी सत्यानन्दजी	बैंगलौर	हैदराबाद	२७-४-३६
५.	विष्णुभगवन्तजी	तांडूर	हैदराबाद	१-४-३६
६.	छोटेलालजी	अलालपुर (मैनपुरी)	गुलबर्गा	३-५-३६
७.	माधोरावजी	लातूर	गुलबर्गा	२६-५-३६
८.	पांडुरङ्गजी	उस्मानाबाद	गुलबर्गा	२७-५-३६
६.	नन्नूसिंहजी	अमरावती	हैदराबाद	२६-५-३६
१०.	सुनहरासिंहजी	बुटाना (रोहतक)	औरङ्गाबाद	८-६-३६
११.	बैजनाथप्रसादजी	नरकटियागंज (बिहार)	बेतिया (हस्पताल।	२५-६-३६
१२.	फकीरचन्दजी	सरधा (करनाल)	औरङ्गाबाद	१-७-३६
१३.	मलखानसिंहजी	रुड़की	हैदराबाद	१-७ ३६
१४.	स्वामी कल्याणानन्दजी	मुजफ्फरनगर	गुलबर्गा	८-७-३६
१५.	शान्तिप्रकाशजी	कलानौर अकबरी (गुरुदासपुर)	उस्मानाबाद	२७-७-३६

१६.	मातूरामजी	मिलकपुर (हिसार)	मनमाड*	२८-७-३९
१७.	भक्त अरूड़ामल	सरगोधा	लाहौर*	२९ ७-३९
१८.	राधाकृष्णजी	निजामाबाद	निजामाबाद बाजार में	२-८-३९
१९.	लक्ष्मणरावजी		हैदराबाद	२-८-३९
२०.	सदाशिव पाठक तडवल	शोलापुर	हैदराबाद	१३-८-३९
२१.	बदनसिंह	मुजफ्फराबाद (सहारनपुर)	वारंगल	२४-८ ३९
२२.	रतिरामजी	सांपला (रोहतक)	सांपला*	२५ ८-३९
२३.	पुरुषोत्तम ज्ञानी	बुरहानपुर	बुरहानपुर*	२६ ८-३९
२४.	अशरफीलालजी	नरकटियागंज	नरकटियागंज*	२९-८-३९
२५.	ताराचन्दजी	लुम्ब (मेरठ)	नागपुर*	१-९-३९
२६.	ब्र० रामनाथजी	गुरुकुल कांगड़ी	अहमदाबाद*	८-९-३९
२७.	गोवन्दरावजी	नलगीर (निजाम राज्य)	हैदराबाद	......
२८.	ब्र० दयानन्दजी	सीरसा हरदोई	हरदोई*	१०-३-४०

प्रश्न

(१) आर्यसमाजकी संगठन शक्तिका परिचय देनेवाली दो मुख्य घटनायें आर्यसमाजके इतिहासमें कौनसी हैं? उनका वर्णन कीजिये।

(२) सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाकी वर्त्तमान स्थिति क्या है? इस द्वारा हुए उल्लेख योग्य कार्य लिखिए।

(३) आर्यसमाजका वर्तमान संगठन क्या है? केन्द्रीय संगठनकी आवश्यकता पर अपने विचार लिखिए।

SOMETHING TO DO

1. Read aloud the poem "Sherwood," by Alfred Noyes. It is all about Robin Hood. Compare the poem by Alfred Noyes with one of the early ballads about Robin Hood.
2. Get a gramophone record of the round, "Sumer is icumen in," and play it to the class The round was written in the thirteenth century, and it is interesting to compare it with music known to be modern After reading the ballad "Sir Patrick Spens," it might be possible to get a gramophone record of Pearsall's part song, which is a musical setting of the famous ballad. This is modern music

Landing of Christopher Columbus
Atlantic
Ocean
Europe
America
Africa
"Columbus sailed the Atlantic 149"

38
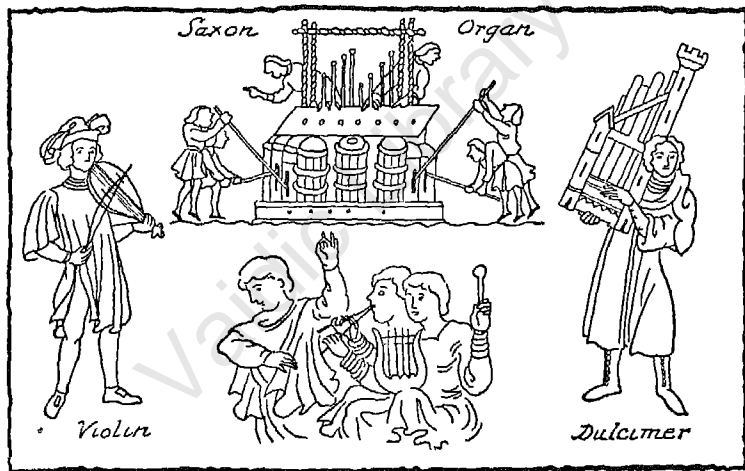
COLUMBUS FINDS AMERICA
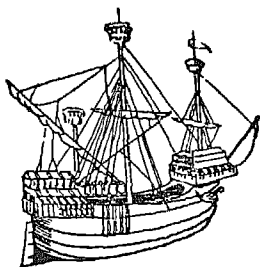
YOU have noticed that in telling the story of Britain we have spoken again and again of men and women who lived outside the British Isles. Julius Cæsar came from Rome, Hengist and Horsa came from what is now Germany, while William the Conqueror came from Normandy in France, and all three helped to make British history. The story of the Hundred Years' War would make no sense at all if we read about Edward III's victory at Crécy and Henry V's victory at Agincourt, but heard nothing of the Maid of Orleans, Joan of Arc.

We now come to another bit of Britain's story which cannot be understood if we think only of the England, Scotland, Wales, and Ireland. In 1492 (the date is at least as important as "William the Conqueror, 1066"), Christopher Columbus discovered America. A.D. 1492! A.D. 1492! A.D. 1492!

In discovering America, Christopher Columbus discovered the Britain of modern times. For two thousand years Greece and Italy, in the Mediterranean Sea, had been the centre of the Western world. When Columbus discovered America, the centre of the Western world shifted. The new centre proved to be England, as our map shows very clearly; London, Bristol, Liverpool, and

Glasgow, which had seemed to be on the outskirts of Europe, now proved to be central points in a new trading-world—the modern world, the world in which we live, the world of to-day

We must know something of this man, Christopher Columbus, who, without knowing what was to come of his discovery, did so much for our islands.

Before the time of Columbus, sailors knew the Atlantic Ocean as a Sea of Darkness. Columbus changed all this. He was an Italian by birth, the son of an inn-keeper. Born about the time England was being driven out of France by Joan of Arc, Columbus went to sea when he was fourteen years old. Later, he became a map-maker in Lisbon, the capital of Portugal. When he was thirty years old, Columbus may have visited Iceland and, perhaps, heard of the earlier Viking journeys to Greenland. At any rate, a year or two later he began to ask himself this question:

"What is there on the other side of the dark Atlantic?"

At last Columbus asked the King of Portugal to give him ships that he might find out. Then he tried the English Court, and when he still did not get the ships he wanted, Columbus turned to King Ferdinand and Queen Isabella of Spain for help. In Spain, Columbus waited for seven long years, but, in 1492, he sailed into the Sea of Darkness.

The King and Queen of Spain lent Columbus three ships. Columbus's own boat, the *Santa Maria*, was ninety feet long and carried a crew of fifty-two. One day the three ships sailed 180 miles; Columbus told his men they had sailed 144 miles! Why did he do this? Well, Columbus did not know how far away the New World

might be and did not want his men to be discouraged too quickly.

Weeks went by. August passed; September passed; still the three ships sailed on. On the 8th of October many birds were seen and Columbus felt sure land was near. On October 11 came a great discovery—a little branch full of wild roses floating on the water—another sure sign of land. On October 12 (what we call October 21 to-day) Columbus discovered the islands known as the Bahamas. Putting on his armour and wearing a scarlet cloak, Columbus went ashore and took possession of the islands for Ferdinand and Isabella of Spain. The natives seemed well built, athletic, and intelligent, and Columbus noticed that some of them had rings of gold in their noses.

Gold! "May our Lord in His mercy direct me until I find this gold." So Columbus wrote in his journal. When he returned to Spain, it was the gold which excited the Spaniards—the golden belts, the golden masks, the gold dust, and the nuggets of gold.

While Columbus was discovering America, Vasco da Gama, a Portuguese sailor, was discovering the sea route to India, by way of the Cape of Good Hope. Italian and Dutch navigators also added to the world discoveries. Tasman, a Dutchman, discovered Tasmania and New Zealand. Such men as Magellan, who first sailed round the world, and the Englishman, Francis Drake, completed these discoveries. The world which had centred around Greece and Rome for two thousand years passed away; a new world, the Modern World, came into being, with the British Isles in the very centre and London as the chief trading-port.

39

ANNUAL SUMMARY

WHAT have our history lessons taught us thus far? Instead of the Britons being a people living just above the marshland round about a river ford, they have come to live in villages built along highroads or in towns, where the comforts of life can be manufactured or brought from long distances. Whereas Britain was a lonely island in the northern seas at the time of Christ's birth, by the end of the Middle Ages it traded with France, Flanders, and Italy, and Britons who could read were in contact with the books and knowledge of all Europe. Again, the church-builders of France had taught British church-builders how to make great cathedrals, as the castle-builders of Normandy had taught English builders to make the great Norman and Plantagenet castles

Such changes are called a "growth of civilization," that is to say a growth in the comforts of life, knowledge, and manufacture. We shall find that the growth of civilization was to go on until the Britain of to-day, Our Britain, was possible.